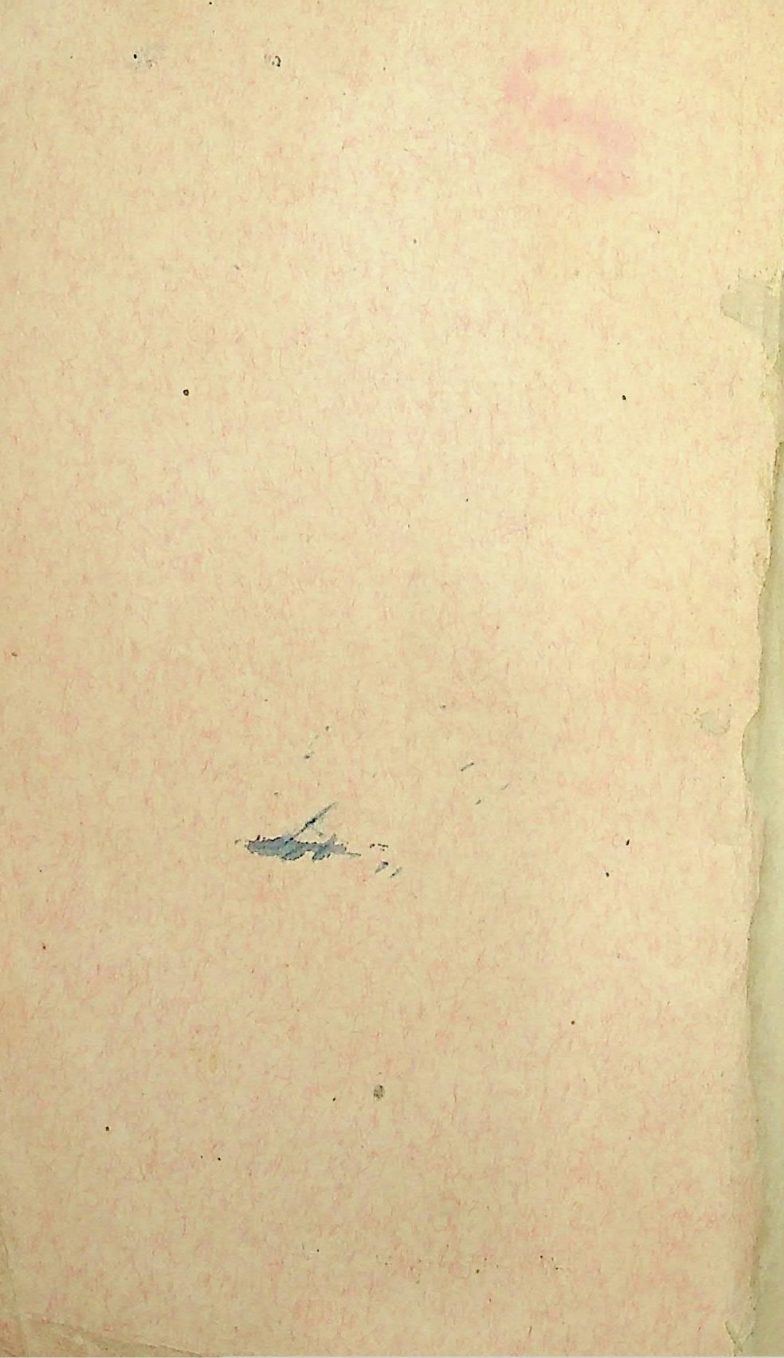
साकेत के नवम सर्ग

का

काव्य-वैभव

डा० कन्हैयालाल सहल



Donated by
RK Razdan w/o RL Shant

निवेदन

सन् १९३३ में जब पहले पहल मैंने 'साकेत' का अध्ययन किया तभी से इस महाकाव्य के नवम सर्ग की ओर मैं विशेषतः आकृष्ट हुआ। हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में निर्धारित रहने के कारण भी इस सर्ग के पारायण तथा पाठन के अनेक सुअवसर मुझे प्राप्त हुए। मेरे सुयोग्य अनुज प्रो० नागरमल सहल एम. ए. की सतत प्रेरणा तथा सहायता से मैंने इस सर्ग पर 'वीणा' में लेखमाला लिखना प्रारम्भ किया जो आवश्यक संशोधन तथा परिवर्धन के साथ प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रही है। मेरे अनुज की विशेष इच्छा थी कि मैं गुप्तजी के वियोग-वर्णन पर एक विस्तृत प्रबन्ध भी लिखूँ। उसे तो यद्यपि मैं अभी तक नहीं लिख पाया किन्तु नवम सर्ग पर जो व्याख्यात्मक समीक्षा अथवा समीक्षात्मक व्याख्या मैंने प्रस्तुत की है, उसका श्रेय मेरे अनुज की बलवती प्रेरणा को ही है।

महाकवियों की उक्तियों में व्याख्याताओं को अनेक अर्थों की प्रतीतियाँ हुआ करती हैं। साकेत के नवम सर्ग के अनेक पद्यों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। व्याख्या करते समय न केवल अनेक प्रतीतियाँ ही मुझसे छूट गई होंगी, मेरी व्याख्या भी सर्वथा त्रुटिहीन नहीं रही होगी। ऐसी परिस्थिति में संशोधन के लिए जो उपयोगी सुझाव विद्वान पठकों की ओर से प्राप्त होंगे, आगे के संस्करण में उनका उपयोग हो सकेगा।

'नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते' के आदर्श को लेकर मैंने प्रस्तुत पुस्तक लिखना आरम्भ किया था किन्तु इस प्रकार के आदर्श की रक्षा के लिए जिस मल्लिनाथोचित संयम की आवश्यकता होती है, वह मुझमें कहाँ? मेरे लिए तो यही बड़ी बात है कि मैं अपनी सीमाओं को समझता हूँ—इसलिए विद्वानों के निकट क्षमा-याचना के अपने अधिकार को छोड़ देना नहीं चाहता।

समीक्षाओं के अनेक प्रकार हिन्दी जगत् में आज दिखलाई पड़ रहे हैं किन्तु इस प्रकार की समीक्षा प्रायः नहीं के बराबर है जिसमें व्याख्या के साथ-साथ समीक्षात्मक टिप्पणियाँ भी हों। अँग्रेजी साहित्य में प्रसिद्ध काव्यों के एक नहीं, अनेक विद्वत्तापूर्ण सुसम्पादित संस्करण सुलभ हैं जिससे न केवल उन काव्यों के अध्ययन में ही सुविधा होती है, देश-देशान्तरों में उनका व्यापक प्रचार भी हो पाता है। मैं समझता हूँ कि व्याख्यात्मक समीक्षा की जो पद्धति इस पुस्तक में अपनाई गई है, उसका किसी रूप में अनुवर्तन अथवा प्रवर्तन आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यों को लेकर यदि किया जाय तो इससे हिन्दी काव्यों के अनुशीलन में बड़ी सहायता मिलेगी। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा आदि के काव्यों के व्याख्यापरक विद्वत्तापूर्ण संस्करण प्रकाशित हों, इसकी आज बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा के गौरवशाली पद पर आसीन हो जाने के बाद अब तो इस प्रकार की व्याख्यात्मक समीक्षाएँ कितनी उपयोगी सिद्ध होंगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

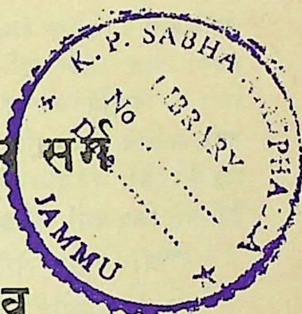
मेरी लेख-माला के प्रकाशित अंशों को पढ़कर जिन मित्रों ने मुझे उत्साहित किया है, मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। स्वयं महाकवि के औदार्य की तो मैं कहाँ तक सीमा निर्धारित करूँ? इस वृद्ध अवस्था में भी मेरे आग्रह पर उन्होंने इस लेखमाला को पढ़ने का कष्ट उठाया और एक पत्र भेजा जो परिशिष्ट नं० २ में प्रकाशित है। उक्त पत्र के प्रकाशित करने की अनुमति देकर आपने न केवल मुझे अनुगृहीत ही बल्कि गौरवान्वित भी किया है। साकेत के सम्बन्ध में गांधीजी के साथ गुप्तजी का जो पत्र-व्यवहार हुआ था उसे भी प्रकाशित करने की अनुमति बड़ी कृपा कर आपने दी। मैं तो केवल इतना ही कहूँगा कि हमारे सांस्कृतिक कवि श्री गुप्तजी के रूप में उदारता और विनम्रता को एक समुचित आश्रय-स्थल प्राप्त हो गया है।

पिलानी १५ जून १९५०

कन्हैयालाल सहल

श्रीः

साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव



काव्य की दृष्टि से 'साकेत' का नवम सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सर्ग के प्रारम्भ में ही कवि की दैन्योक्ति है कि सरस कविता न कर सकने के कारण मेरा कवि-जीवन व्यर्थ ही गया, पर फिर भी श्रम में ही मुझे संतोष है। इस सर्ग को लिखकर कवि को अवश्य ही सुख मिला होगा, ऊर्मिला की बेचैनी का वर्णन करके भी उसने चैन का अनुभव किया होगा। कवि की भावना के अनुसार तो यह सर्ग आज भी अधूरा है और यह सच भी है, क्योंकि विरहोद्‌गारों की कोई इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती। इससे स्पष्ट है कि 'साकेत' का नवम सर्ग बार बार लिखे जाने पर भी हमेशा अधूरा ही रहेगा। 'यशोधरा' को भी एक दृष्टि से इस सर्ग की पूर्ति का प्रयास ही कहा जा सकता है।

'साकेत' के प्रत्येक सर्ग में कवि ने संबोधन-पद्धति का आश्रय लिया है। इस सर्ग में कारुण्य की प्रमुखता होने के कारण करुणा को संबोधित करके कहा गया है:—

करुणे क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
"मेरी विभूति है जो, उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई ?"

अर्थात् हे करुणे ! तू क्यों रोती है ? भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में तू पहले ही बहुत अधिक रो चुकी है। यह सुनकर करुणा

उत्तर देती है कि मेरा रोना तो इस बात को लेकर है कि भवभूति को लोग भव की भूति अर्थात् संसार का ऐश्वर्य अथवा शिव की विभूति कहकर पुकारते हैं; भवभूति संसार की विभूति नहीं, न शिव की विभूति है, वह तो मेरी विभूति है, मेरा ही अभिन्न अङ्ग है। जिस भवभूति को मूर्तिमती करुणा अपनी विभूति बतलाती है उसके लिए क्यों न कहा जाय—

"अपि ग्रीवा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"

अर्थात् भवभूति की कविता से पत्थर भी रो पड़ते हैं और वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है। ग्रे के लिए जैसे प्रसिद्ध है Melancholy had marked him for her own उसी तरह भवभूति के लिए हम कह सकते हैं Pathos had marked him for his own. अर्थात् करुणा ने भवभूति को अपना करके माना था।

उक्त आर्या छन्द शाब्दी-व्यंजना का उत्कृष्ट उदाहरण है। अनेकार्थवाची कोई शब्द जब संयोग आदि के द्वारा प्रसंगानुसार किसी एक अर्थ में नियंत्रित हो जाता है तब जिस शक्ति के द्वारा दूसरे अर्थ का बोध होता है उसे अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना कहते हैं। उक्त छन्द में 'उत्तर' और 'भवभूति' श्लिष्ट शब्द हैं। 'उत्तर' के दो अर्थ हैं (१) जवाब और (२) उत्तररामचरित। 'भवभूति' शब्द के अर्थ हैं (१) संसार की विभूति (२) शिव की राख या विभूति और (३) कवि-विशेष।

उक्त पद्य का प्रसंगानुकूल अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। श्लिष्ट शब्द 'उत्तर' के बल से दूसरा अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि जब किसीसे सहानुभूतिवश यह पूछा जाता है कि तुम क्यों रोते हो, तो वह उत्तर में और अधिक रोने लगता है। सहानुभूति के कारण हृदय का आवेश अश्रुओं के रूप में फूट पड़ता है। इस छन्द की दूसरी पंक्ति से करुणा यह ध्वनित करती हुई प्रतीत होती है कि अनेक करुण-रस-निष्णात कवि भी मेरी विभूति का चाहे वर्णन

करते रहें; पर फिर भी मेरी विभूति निःशेष नहीं हो सकती। इसलिए कोई भवभूति जैसा कवि भी मेरी विभूति का पूर्णतः कैसे वर्णन कर सकता है? अतः भवभूति के उत्तररामचरित के बाद भी 'साकेत' के नवम सर्ग की करुणा रोती है तो उसका रुदन उचित कहा जा सकता है। हर एक सर्ग में कवि ने प्राचीन कवियों का आह्वान किया है। करुणरस-सिद्ध होने के कारण यहाँ भवभूति को याद किया है क्योंकि इस सर्ग में भी कारुण्य का वर्णन ही अभीष्ट है।

ऊपर के विवेचन को पढ़कर कोई यह कह सकता है कि इस छन्द के मुख्यार्थ द्वारा तो भवभूति का जयजयकार हो रहा है; किन्तु व्यंजना से जो अर्थ किया गया है उससे भवभूति का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। बल्कि यह अर्थ निकल आता है कि भवभूति द्वारा उत्तररामचरित जैसे करुण-रस-प्रधान नाटक के लिखे जाने पर भी गुप्तजी जैसे कवि यदि विरहिणी ऊर्मिला के हृदयोद्गारों का कारुण्यपूर्ण वर्णन करें तो उनकी ओर से ऐसा किया जाना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि करुणा की विभूतियों का भाण्डार अपरिमित है। कोई चाहे तो यह भी कह ले; किन्तु सच तो यह है कि ध्वनि-व्यापार की महिमा ही ऐसी है। कवि की लेखनी से जब शब्द निकल पड़ते हैं तब वे कवि के वश में भी नहीं रह जाते। कवि की इच्छा अथवा आशा के विरुद्ध भी उन शब्दों का दूसरा अर्थ लोग निकाल लेते हैं। 'साकेत' के नवम सर्ग की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसमें वर्णन करने की विभिन्न प्रणालियों का अनुसरण किया गया है। निम्नलिखित छन्द में विरोधाभास और यमक का अच्छा प्रयोग हुआ है—

अवध को अपना कर त्याग से,
वन तपोवन-सा प्रभु ने किया।
भरत ने उनके अनुराग से,
भवन में वन का व्रत ले लिया!

अपनाया तो जाता है ग्रहण से, त्याग से नहीं। इसलिए प्रथम पंक्ति में विरोधाभास अलंकार है। विरोधाभास वहाँ होता है जहाँ विभिन्न स्थानों में मिलने वाले विरोधी गुण एक ही स्थान में दिखला दिये गये हों। ऊपर की पंक्ति में कहा गया है कि राम ने अयोध्या को त्याग से अपनाया। यहाँ 'त्याग' और 'अपनाना' दोनों को एक ही स्थान में दिखला दिया गया है। इसी प्रकार

"राजा योगी जय जनक वे पुण्यदेही, विदेही।"

में भी विरोधाभास है क्योंकि यहाँ पर राजा जनक को 'देही' और 'विदेही' दोनों एक साथ कह दिया है। किन्तु यहाँ पर ध्यान में रखने की बात यह है कि विरोधाभास में विरोध केवल प्रातिभासिक होता है, वास्तविक नहीं। व्याख्या करने पर आपाततः प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार हो जाता है। 'राम ने अयोध्या को त्याग से अपनाया' इसका आशय यह है कि त्याग द्वारा राम अयोध्या-वासियों के और भी श्रद्धेय हुए। 'भवन और वन' का यमक भी उक्त छन्द में द्रष्टव्य है। संस्कृत के वर्णित छन्दों का प्रयोग जहाँ गुप्तजी ने किया है वहाँ संस्कृत की समासान्त शैली का वह अनुसरण नहीं है जो 'प्रियप्रवास' अथवा 'सिद्धार्थ' में देखा जाता है।

काव्यशास्त्रानुसार वह नायिका जिसमें लज्जा और काम समान हों, मध्या नायिका कहलाती है। ऊर्मिला और लक्ष्मण के विवाह को थोड़े ही दिन हुए थे। निम्न लिखित छन्द में मध्या नायिका की भाँति ऊर्मिला का चित्रण कवि ने किया है—

"भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—'आओ'!
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर—'जाओ'!

अर्थात् जागृतावस्था में भी जब ऊर्मिला को १४ वर्षों की अवधि का स्मरण न रहता तो वह अपने प्रिय को संयोग सुख के लिए आमंत्रित करती थी। निद्रा की अवस्था में जब कभी लक्ष्मण से उसका मिलन होता तो वह मध्या नायिका की भाँति चौंककर

'जाओ' कह उठती थी। 'आओ' और 'जाओ' क्रमशः काम और लज्जा के द्योतक हैं। ध्वनि यह है कि ऊर्मिला को सोते-जागते पति का ही ध्यान है। आठ पहर चौंसठ घड़ी ऊर्मिला को स्वामी का ही ध्यान रहता था, इसलिए उसका आत्म-ज्ञान भी उससे पीछे छूट गया। मानस-मन्दिर में पति की प्रतिमा स्थापित कर स्वयं आरती बनकर वह उस विरह में जलती-सी रहती थी। प्रतिक्षण उसकी आँखों में प्रिय की मूर्ति बसी थी और वह सब भोगों को भूल गई थी। योग में चित्त-वृत्तियाँ एक ओर केन्द्रित हो जाती हैं, ऊर्मिला की समस्त चित्त-वृत्तियाँ भी अपने पति में केन्द्रित हो गई थीं। इसलिए कवि ने कहा है:—

'हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग !'

ऊर्मिला का विषम-वियोग योग से भी अधिक हो गया ! यह विरोधात्मक व्यतिरेक भी बड़ा चमत्कारपूर्ण हुआ है !

रसायन वह कल्पित योग है जिसके द्वारा ताँबे से सोना बनना माना जाता है। रसायन-शास्त्रज्ञ ताम्र को सुवर्ण बना देते हैं। ताम्र पत्र पर लिखी गई ऊर्मिला की कथा रसायन का काम करेगी। ताम्र को स्वर्ण बनाते समय जिस प्रकार रस के लेप और ताप की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार यहाँ रुदन्ती* विरहिणी का रुदन-रस अर्थात् उसके आँसू लेप का काम देंगे और प्रिय-विरह का भावोन्माद ताप का काम करेगा। जिस प्रकार ताँबे से सोना बन जाने पर उससे तरह तरह के कर्णाभूषण तैयार हो सकते हैं, उसी प्रकार जिन कवियों का एक एक अक्षर कर्ण-सुखद होता है, उन कवियों के ताम्रपत्र सुवर्ण के क्यों नहीं बन जायँगे ? इसी बात को लक्ष्य में रखकर कहा गया है—

---

*'रुदन्ती' एक ओषधि विशेष होती है जिसके रस के विषय में कहा जाता है, ताम्रपत्र पर उसका लेप कर के आँच देने से ताँबा सोना हो जाता है। इसलिए विरहिणी को यहाँ 'रुदन्ती' कहा गया है। कवि के वनस्पति-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान पर भी यहाँ हमारी दृष्टि गये विना नहीं रहती।

"उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कवि जनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?"

रूपक, श्लेष और काकुवक्रोक्ति का प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य है। इस सर्ग में उक्ति वैचित्र्य के अनेक मनोरम उदाहरण मिलते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न अब वे थे,
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे ?

अर्थात् संयोग के समय लक्ष्मण ऊर्मिला के सामने थे, इसलिये 'आँखों में थे'। पर वियोग के समय वे उसके मानस में कूदकर मग्न हो गये थे। सरोवर में कूदने से जैसे छींटे उड़ते हैं, उसी प्रकार ऊर्मिला के मन-रूपी मानसरोवर में लक्ष्मण के कूदने से जो छींटे उड़े, उन्हें आँसू क्यों कहा जाय ? इस पद्य में हेत्वपह्नुति अलंकार है। अर्थात् ऊर्मिला के नेत्रों में आँसू नहीं हैं—ये तो वे छींटे हैं जो उसके हृदय रूपी मानसरोवर में लक्ष्मण के कूदने से उड़े हैं। 'मानस' के श्लेष-लाघव से रूपक भी निष्पन्न हो गया है। भाव यह है कि मानस में हलचल होने पर ही आँखों में आँसू आते हैं।

साहित्य-दर्पण में कहा गया है "नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।" अर्थात् महाकाव्य के किसी एक सर्ग में कहीं-कहीं अनेक छन्द भी मिलते है। 'साकेत' के नवम सर्ग में भी कवि ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। विविध छन्दों में ऊर्मिला के विरहोद्गारों का चित्रण करना एक मनोवैज्ञानिक उद्भावना है जिसके लिए कवि की प्रशंसा की जा सकती है। सम्भवतः कथा प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आचार्यों ने एक सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग का विधान किया होगा, किन्तु विरह-वर्णन में कथा-प्रवाह का प्रश्न नहीं उठता; वहाँ तो विरह की अभिव्यक्ति अपने लिए कितने टेढ़े-

सीधे प्रकार ढूँढ़ सकती है, इसीकी ओर कवि की दृष्टि जाती है। अनेकरूपमयी विरह-विह्वलता को अनेकवृत्तमयी बना देना कवि के कौशल का परिचायक है। दूसरी बात यह है कि वृत्तों की विविधिता के कारण पाठक का जी भी नहीं ऊबता। इस सर्ग में कहीं घनाक्षरी की छटा है तो कहीं सवया अपना सौंदर्य लुटा रहा है; कहीं संस्कृत के सुललित वर्णिक वृत्त हैं तो कहीं मात्रिक छन्द शोभित हो रहे हैं; कहीं आर्या छन्द है तो कहीं सुन्दर दोहे बिखरे पड़े हैं। निम्नलिखित दोहे को लीजिए:—

उसे बहुत थी विरह के, एक दण्ड की चोट।
धन्य सखी देती रही, निज यत्नों की ओट॥

'दण्ड' शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—(१) डण्डा और (२) साठ पल का समय। श्लेष के कारण इस दोहे में बड़ी मार्मिकता आ गई है तथा रूपक का भी अच्छा निर्वाह हो गया है। डण्डे की चोट से बचने के लिए ओट की आवश्यकता होती है; विरह के एक दण्ड की चोट भी ऊर्मिला सहन नहीं कर पाती, यत्नों की ओट से किसी प्रकार सखी उसकी रक्षा कर रही है। इस दोहे में 'दण्ड की चोट' इस पहले रूपक के आधार पर 'यत्नों की ओट' इस दूसरे रूपक का निरूपण हुआ है। इसलिए यहाँ परम्परित रूपक है जिसका आधार 'दण्ड' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है।

ऊर्मिला का अपने प्रियतम से मिलना अभी दूर की वस्तु थी, केवल विलाप ही उसके वश का रह गया था। गायक की अँगुलियों द्वारा वीणा के तारों का स्पर्श किये जाने पर जिस प्रकार 'दिर दार दारा' की ध्वनि निकलती है, वैसे ही शरीर के स्पर्श-मात्र से ऊर्मिला की विलाप-ध्वनि निकलती थी। विलाप ही उसके जीवन का अपूर्व आलाप हो गया था—

मिलाप था दूर अभी धनी का,
विलाप ही था बस का बनी का।

अपूर्व आलाप वही हमारा,
यथा विपंची—दिर दार दारा!

ऊपर की पंक्तियों में 'धनी' शब्द पति के अर्थ में और 'बनी' नववधू के अर्थ में प्रयुक्त है। राजस्थानी भाषा में 'धणी' पति के अर्थ में व्यवहृत होता है। नायिका के अर्थ में 'बनी' शब्द का प्रयोग व्रजभाषा के अनेक कवियों की रचनाओं में अनायास ढूँढ़ा जा सकता है। देव से एक उदाहरण लीजिये—

"अँगिया की तनी खुलि जाति घनी
सु बनी फिरि बाँधति है कसि कै।"

अपने 'सिद्धार्थ' नामक महाकाव्य में श्री अनूप शर्मा ने भी दुलहिन के अर्थ में 'बनी' शब्द का प्रयोग किया है:—

"विमुग्ध सिद्धार्थ 'बना' बने अहो!
'बनी' बनी कान्तिमती यशोधरा।"

संस्कृत के वर्णिक वृत्त सामान्यतः तुकान्त नहीं होते। 'सिद्धार्थ' और 'प्रियप्रवास' में भिन्न तुकांत वर्णिक छन्दों का ही प्रयोग हुआ है किन्तु गुप्तजी की यह विशेषता है कि वे संस्कृत के वर्णिक वृत्तों में भी तुक का निर्वाह करते चलते हैं। ऊपर के वर्णिक वृत्त में केवल तुकांत का ही निर्वाह नहीं हुआ है, 'मिलाप' 'विलाप' और 'आलाप' के कारण आंतरिक तुक भी आ गया है जिसके कारण पद्य में नाद-सौंदर्य की छटा दर्शनीय है। आंतरिक तुक-साम्य तुलसीदास में प्रचुरता से मिलता है; विस्तार-भय से उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं। 'विलाप ही अपूर्व आलाप बन गया था' इस प्रकार के विरोधात्मक प्रयोगों से काव्य-सौंदर्य में वृद्धि होती है। संगीत की वह तान भी सचमुच अपूर्व होगी जहाँ विलाप ही आलाप बन गया हो! साकेत के किसी संस्करण में उक्त पद्य की चौथी पंक्ति में 'यथा विपंची—डिड डाड डा डडा' ऐसा कुछ पाठ देखा था; 'दिर दार दारा' पीछे किया हुआ संशोधित रूप है।

साधारण विरह-वर्णन में देखा जाता है कि विरही जन सारे उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसा करते हैं। द्विजराज चन्द्रमा को कसाई कह देना तो कोई बात ही नहीं, और भी न जाने क्या-क्या नहीं कहा जाता। किन्तु 'साकेत' की ऊर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानो विद्रोह करती है। सूरदास की गोपियाँ जहाँ कहती हैं—

"मधुवन तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्याम-सुन्दर के ठाढ़े कस न जरे ?"

वहाँ इसके विरुद्ध ऊर्मिला की उक्ति है—

सींचें ही बस मालिनें कलश ले, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़ के फैलें लताएँ हरी।
क्रीड़ा-कानन शैल यन्त्र-जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो, सखि, वहीं सोता भिगोता बहे।"

वियोग-वेदना के कारण ऊर्मिला की हृदय वृत्ति बहुत कोमल हो गई है। उसका आदेश है कि मालिनें कलश लेकर केवल पौधों की सिंचाई का काम करें, कैंची लेकर कोई उन्हें कतरे नहीं। वृक्षों को यथेच्छ बढ़कर फूलने-फलने दो और हरी-हरी लताओं को फैलने दो। क्रीड़ा-कानन का पर्वत भी फव्वारे के जल से सींचा हुआ रहे और हे सखी! चलो, मेरे जीवन का सोता (झरना) भी भिगोता हुआ बहता चले।

इसी प्रकार की एक दूसरी उक्ति और लीजियेः—

"हँसो हँसो हे शशि, फूल, फूलो,
हँसो हिंडोरे पर बैठ झूलो!
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ,
झड़ी लगा दूँ, इतना पिये हूँ॥"

इस तरह का वियोग वर्णन, मेरी दृष्टि में, हिन्दी साहित्य को गुप्तजी की देन है। पुराने कवियों की परिपाटी से यह सर्वथा भिन्न है और मानव-जीवन के एक प्रकृत तथ्य पर आश्रित है। भुक्तभोगी जानते हैं कि जीवन के नभोमण्डल में जब काले बादलों की घटा घिर आती है, उस समय मनुष्य का अभिमान विनम्र रूप धारण कर लेता है और उसकी वृत्ति में कारुण्य-भाव जागृत होने के कारण उसे इच्छा होने लगती है कि मैं भी किसी का दुःख बँटा पाता !

इस सम्बन्ध में हिन्दी के सुकवि श्री नरेन्द्र की निम्न लिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं:—

"प्रभु ! अतुलित तम जगती का
मेरे मानस में, भर दो ,
घर घर में नगर नगर में
दीपित हों दीपावलियाँ !
विधना ! जग में यदि दुख है ,
मुझको दे दो जग का दुख ,
ये तो सब सुख से खेलें ;
खेलें जग में सुख-निधियाँ !
इनको दो प्रभु, मुसकानें ,
मंगल-गायन की तानें ,
मेरी आँखों में भर दो
धुँधली आँखों की लड़ियाँ !
चिन्ता, उर-शूल यातना
दो, ये मेरे जीवन को ,
जग हो शुभ नन्दन कानन
क्रीड़ित हों स्वर्णिम परियाँ !

मैं अविरत दुख सह लूँगा
सह लूँगा सभी व्यथाएँ ,
जग में सुख ही सुख भर दो ,
हों मेरी दुख की घड़ियाँ !"

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है—अपने पर दुःख आने से क्यों मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर भी पर-सुख की इच्छा करने लगता है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, सुख के क्षण मनुष्य के मन में अभिमान के भाव जागृत करते हैं, दुःख के क्षण उसको करुणार्द्र बनाते हैं। दुःख की अवस्था में आत्मा का विस्तार होता है जिसके कारण सभी प्राणियों के प्रति सहानुभूति का भाव जागृत होता है। कुछ विचारकों का कहना है कि दुःख के समय मनुष्य को अपने जीवन की निःसारता का अनुभव होने लगता है, इसलिए वह पर-हित की ओर प्रेरित होता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि दुःख के समय जब हम दूसरे को सुखी देखने की इच्छा प्रकट करते हैं तो यह अज्ञात इच्छा हमारे मन में घर किये रहती है कि इस परहितैषिता के कारण कभी शायद हमारा दुःखद वर्तमान भी सुखद भविष्य का रूप धारण कर ले! प्रकृत प्रसंग में वियोगिनी के संतोष की एक यह संभावना भी की जा सकती है कि जिन उद्दीपनों ने मुझ पर अत्याचार किया है उन्हें मेरे ही एक दूसरे सजाति जन ने संयोग में अपना सेवक बना रखा है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने बहुत वर्ष हुए 'विशाल-भारत' में 'मुझे डाक्टर लगा था' शीर्षक एक लेख प्रकाशित करवाया था जिसमें उन्होंने मधुमेह की चिकित्सा के लिए गुड़मार-बूटी का उल्लेख किया था, जिसके खाने पर गुड़ का स्वाद भी बिल्कुल मिट्टी-जैसा हो जाता है। यह बूटी बुन्देलखण्ड में बहुत मिलती है। निम्नलिखित पद्य में संभवतः इसी बूटी के प्रसंग को लेकर बात कही गई है—

"वन की भेंट मिली है, एक नई
वह जड़ी मुझे जीजी से ;
खाने पर सखि, जिसके गुड़
गोबर-सा लगे स्वयं ही जी से !'

चित्रकूट में ऊर्मिला भी साथ थी। वहाँ पर सीता ने ऊर्मिला के सामने गुड़मार बूटी का जिक्र किया होगा। उसी प्रसंग को लेकर ऊर्मिला कहती है कि मैं तो हमेशा जैसे गुड़मार-बूटी खाये हुए ही रहती हूँ। प्रिय के वियोग में ऊर्मिला को कोई चीज अच्छी नहीं लगती, उसकी जिह्वा का स्वाद बिल्कुल जाता रहा है। रसौषधों का प्रयोग करते समय बड़ी सतर्कता की आवश्यकता होती है। इनके असंगत प्रयोग से विष उत्पन्न हो जाता है। रसवैद्य के निर्देशानुसार ही रसौषधों का प्रयोग कल्याणकारी होता है। इसी प्रकार षट्रस व्यंजनों की आज ऊर्मिला के लिए कमी नहीं, किन्तु प्रिय के विना इनका विषम प्रयोग विषवत् हो गया है। प्रयोक्ता के विना आज भोगों ने भी रोगों का रूप धारण कर लिया है।

"रस हैं बहुत, परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग ,
विना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग !"

ऊपर के दोहे में श्लेष का आश्रय लिया गया है। 'रस' से अभिप्राय है मधुर, तिक्त, अम्ल आदि भोजन के षट्रस तथा रसौषध। 'प्रयोक्ता' शब्द भी प्रिय और रसवैद्य दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

प्रिय के वियोग में ऊर्मिला को खान-पान कुछ भी अच्छा नहीं लगता। ऊर्मिला की सखी उसे क्षीर पिलाने का हठ कर रही है जिस पर ऊर्मिला कहती है—

"लाई है क्षीर क्यों तू ? हठ मत कर यों ,
मैं पियूँगी न आली ,
मैं हूँ क्या हाय ! कोई शिशु सफल-हठी ,
रंक भी राज्यशाली ?"

बच्चा जब हठ कर लेता है तो किसी के बहुत मनाने पर भी वह कुछ खाता-पीता नहीं, बाल-हठ तो प्रसिद्ध ही है। रंक को भी यदि राज्य प्राप्त हो जाय तो उसे षट्रस व्यंजन अनायास उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु अनभ्यास के कारण वह उन व्यंजनों से भी दूर दूर रहता है। इसी प्रसंग को लेकर उर्मिला अपनी सखी से कहती है कि तू क्षीर क्यों ले आई है ? और क्यों इस प्रकार हठ कर रही है ? मैं तो इसे पीने से रही ? पर तू यह तो बता कि मुझे पिलाने का हठ क्यों कर रही है ? क्या तूने मुझे कोई सफल-हठी शिशु समझ रखा है जो रंक होकर भी राज्यशाली है !* उर्मिला के कहने का तात्पर्य यह है कि मैं जो क्षीर नहीं पी रही हूँ, इसका कारण यह नहीं है कि मैंने रूठ कर बच्चे की तरह हठ ठान लिया है, न मेरे लिए यही कहा जा सकता है कि मुझे कभी व्यजनों की कमी रही हो; मैं तो षट्रस व्यंजनों की आदी ही रही हूँ। किन्तु करूँ क्या, आज प्रिय के वियोग में मेरी भूख जाती रही, मेरी जिह्वा का स्वाद जाता रहा ! तू मेरे सामने व्यंजनों का थाल लाती है, किन्तु एक कौर भी तो नहीं भाता—

अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई ?
वही पाक है, जो विना भूख भावे,
बता किन्तु तू ही, उसे कौन खावे ?
बनाती रसोई सभीको खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना-सलोना ?

* 'रंक भी राज्यशाली' शिशु के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। अकिंचन जन भी अपने बच्चा के हठ को कुछ दे-दिला कर अथवा उनको बहला कर पूरा करते हैं। इसलिए बच्चे रंक होकर भी राज्यशाली कहे जाते हैं।

'तू क्यों इसे आज लाई?' में ध्वनि यह है कि मैंने तो तुझे थाल लाने के लिए नहीं कहा था। सहृदय पाठक देखेंगे कि ऊपर की पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं! सुख के समय जब हम अनुभूत दुःखों का चिन्तन करते हैं तो ऐसा करने में हमें दुःख का अनुभव नहीं होता। राज्याभिषेक के बाद जब भगवान रामचन्द्र वनवास के चित्रों को देखा करते थे तो उन्हें सुख ही होता था, दुःख नहीं। इसी बात को कविकुल गुरु ने इस प्रकार कहा है—

"प्राप्तानि दुःखान्यपि दंडकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्।"

दुःखों की काल्पनिक अनुभूति में वास्तविक दुःख का अभाव होने से सुख ही मिलता है; किन्तु दुःख के समय सुखद प्रसंगों की कल्पना अथवा स्मरण बड़ा दुखदायी होता है। हिन्दी के यशस्वी कवि दिनकर ने कहा है—

सुख में दुख की स्मृतियाँ मधुर
दुःख में सुख की स्मृतियाँ शूल,
विरह में किन्तु मिलन की याद
नहीं मानव-मन सकता भूल॥

दुःख के समय ऊर्मिला भी सोचती है कि आज मैं रसोई बनाती और सभीको खिलाती तो कितनी तृप्ति मुझे मिलती! किन्तु हठात् उसके मुहँ से निकल पड़ता है—

रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोंना-सलोंना?

प्रिय के वियोग में ऊर्मिला फटे हुए वस्त्र पहने है। उसकी सखी जब उसे फटे वस्त्रों का स्मरण दिलाती है तो ऊर्मिला कहती है:—

चाहे फटा-फटा हो, मेरा अम्बर अशून्य है आली,
आकर किसी अनिल ने भला यहाँ धूलि तो डाली!

'अम्बर' और 'शून्य' दोनों आकाश के पर्यायववाची शब्द हैं। अम्बर वस्त्र के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। ऊर्मिला कहती है कि अम्बर (आकाश) तो शून्य होता है, किन्तु मेरा अम्बर (वस्त्र) फटा-फटा होना पर भी शून्य नहीं है, क्योंकि हवा आकर मेरे फटे वस्त्र पर धूल की दया तो कर ही जाती है। फटे वस्त्र में शून्याकार छेद हो जाता है, इसलिए फटे वस्त्र को शून्य (युक्त) कहा जा सकता है। किन्तु हवा के साथ जब धूल आकर फटे वस्त्र पर गिरती रहती है, तो उससे वह शून्यता आच्छादित-सी होती रहती है। अथवा उक्त पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

"मेरा वस्त्र जीर्ण भले ही हो पर वह शून्य अर्थात् रिक्त नहीं है क्योंकि किसी वायु ने आकर—उलट कर—मेरे आँचल में भला यह धूल तो डाली।" अम्बर के श्लिष्ट प्रयोग को लेकर यह भी कहा जा सकता है—

"मेरा आकाश (अदृष्ट) मुझसे फटा-फटा (रुष्ट किंवा खिन्न) भले ही हो किन्तु वह शून्य (रिक्त) नहीं है। मुझे कुछ दे ही रहा है; किसी पवन ने आकर भला यहाँ धूल तो डाली!" ऊपर की पंक्तियों में क्षोभ किंवा आक्षेप स्पष्ट है।

जब सखी ऊर्मिला को उसके धूलि-धूसरित वस्त्रों का स्मरण दिलाती है तो वह कहती है—

"धूलि-धूसर हैं तो क्या, यों तो मृण्मात्र गात्र भी;
वस्त्र ये वल्कलों से तो हैं सुरम्य, सुपात्र भी!
फटते हैं, मैले होते हैं, सभी वस्त्र व्यवहार से;
किन्तु पहनते हैं क्या उनको हम सब इसी विचार से?"

वस्त्र धूलि-धूसर हैं तो क्या! यों तो हमारा शरीर भी मिट्टी ही है। मेरे प्रिय तो वन में रहते हुए वल्कल पहने हुए हैं, मेरे ये वस्त्र वल्कल-वस्त्रों से तो अच्छे ही हैं। सभी वस्त्र उपयोग में आने से फटते हैं और मैले भी होते हैं; किन्तु हम सब क्या इसी विचार से

वस्त्र पहना करते हैं ? ऊर्मिला कहती है कि इसके विपरीत मैं तो इस विचार से वस्त्र पहनती हूँ कि ये फट जायँ और मैले हो जायँ जिससे ये वस्त्र वल्कल की अनुरूपता धारण कर सकें। यहाँ 'विषाद' संचारी है; क्योंकि प्रिय के दुःख की स्थिति की धारणा ऊर्मिला कर रही है। जहाँ तक मैं समझता हूँ 'साकेत' के नवम-सर्ग में साहित्य-शास्त्रों में परिगणित सभी संचारियों का तो वर्णन हुआ ही है; इसके अतिरिक्त कुछ स्वतन्त्र संचारियों का भी चित्रण हुआ है जिससे कवि की सूक्ष्म-दृष्टि का परिचय मिलता है।

कभी-कभी ऊर्मिला प्रिय दर्शन की अभिलाषा के कारण सब कुछ करने के लिए तयार हो जाती है और सखी से कहने लगती है—

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहनलूँ ला, सब करूँ ;
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विध बता, धीरज धरूँ ?
अरी कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ।*

ऊर्मिला देखती है कि मुझे रोती हुई देखकर तीनों सासें और दूनी रोने लगती हैं, देवर श्री शत्रुघ्न लज्जा से नत हो जाते हैं। उसकी बहनें निःश्वास छोड़ती हैं। ऐसी हालत में वह निर्जन का आश्रय लेती है जिससे दूसरों को भी शान्ति दे और स्वयं भी शान्ति पाये।

रोती हैं और दूनी निरख कर दीन-सी तीन सासें,
होते हैं देवर श्री नत, हत बहनें छोड़ती हैं उसासें।
आली, तू ही बता दे, इस विजन विना मैं कहाँ आज जाऊँ ?
दीना, हीना, अधीना ठहर कर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ ?

हर्षोच्छ्वास लेकर ऊर्मिला चित्रकूट में आइ थी, अब वह निःश्वास देकर अयोध्या वापिस कैसे जाय ?

* ऊर्मिला का औत्सुक्य यहाँ संचारी है।

आई थी सखि, मैं यहाँ लेकर हर्षोच्छ्वास !
जाऊँगी कैसे भला देकर यह निःश्वास ?

प्राण चाहे एक-बारगी कहीं चले जायँ, प्रिय जब अयोध्या लौटेंगे तब इन प्राणों को भी वहाँ आना ही होगा। इसलिए जिस स्थान पर आखिर आना ही है, वहाँ से प्राण दूसरी जगह क्यों व्यर्थ जायँ ?

कहाँ जायँगे प्राण ये, लेकर इतना ताप ?
प्रिय के फिरने पर इन्हें, फिरना होगा आप।

हे सखि! माँ की वह चित्रकूट वाली झाँकी मुझे व्यथित कर रही है जब उन्होंने मुझसे कहा था—'न तुझे वन मिला न घर ही मिला !'

मेरे पिता (जनक) पुत्र तथा जामाता को समान ही मानते आये थे। इसलिये वे अपना राज्य भरत की माता को देना चाहते थे, परन्तु दे नहीं सके। कैकेयी की लज्जा के विचार से देने का प्रस्ताव ही वे न कर सके अथवा वह स्वीकृत न हुआ।

जात तथा जामाता समान ही मान तात थे आये,
पर निज राज्य न मँझली माता को वे प्रदान कर पाये !

इन पंक्तियों में कैकेयी की राज्य-लिप्सा पर बड़ा कठोर व्यंग्य है।

ऊर्मिला ने सोचा था कि जब मैं चित्रकूट में स्वामी से मिलूँगी तब उन्हें अनेक उपालंभ दूँगी। किन्तु जब वह स्वामी से मिली तो वह अपने को सँभाल न सकी, उसके सब उपालम्भ गलकर आँसू के रूप में बह गये। उसकी ऐसी हालत देखकर प्रिय के हृदय में जो नीरव दया हो आई, उसीकी पीड़ा का अनुभव उसे रह गया ! प्रिय-मिलन के समय ऊर्मिला न कुछ अपनी कह सकी, न भय के कारण उन्हींकी कुछ पूछ सकी, और प्रिय भी—

"अपने को भूले वे, मेरी ही कह उठे सखेद हृदय से।"

ऊर्मिला को जो कहना था वही प्रिय ने कह डाला, क्योंकि विरह-वेदना दोनों को एक-सी थी !

चित्रकूट का स्मरण करके ऊर्मिला कहती है कि मिथिला में मेरी उत्पत्ति हुई, अयोध्या में मैंने आनन्द मनाये, पर इस चित्रकूट को क्या कहूँ ?

मिथिला मेरा मूल है, और अयोध्या फूल ,
चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती हूँ भूल !

यहीं चित्रकूट का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। संबोधन शैली का आश्रय लेकर ऊर्मिला कहती है—'हे सिद्ध-शिलाओं के आधार, उच्च उदार गौरव-गिरि ! तुझ पर ऊँचे झाड़ हैं, और तुझ पर छाते की तरह वृक्ष फैले हुए हैं। क्या ही अपूर्व है तेरी आड़ ! अनेक जीव यहाँ विहार करते हैं। तेरे चारों ओर घिरकर बादल गरजते हैं, नाच-नाच कर मोर गाते हैं और गहरी गुञ्जार उठती है। नभ की वृष्टि तुझे नहलाती है और धूप तेरा अंग पोंछती है—

नहलाती है नभ की वृष्टि ,
अंग पोंछती आतप-सृष्टि ।

कहने का तात्पर्य यह है कि पहाड़ पर का पानी धूल से सूख जाता है। चित्रकूट का प्रभुत्व यहाँ द्रष्टव्य है। कोई स्नान कर रहा है, तो कोई अंग पोंछ रहा है। चन्द्रमा दृष्टि को शीतल करता है और ऋतुराज वसन्त श्रृंगार के साज सजाता है। 'अंग पोंछती आतप-सृष्टि' में सृष्टि का प्रयोग व्यर्थ है, दृष्टि की तुक-पूर्ति के लिए किया गया है।

'हे गौरव-गिरि ! तू निर्झर का दुपट्टा डालकर कंद-मूल फल-फूल लेकर स्वागत के लिए सबके अनुकूल है और दरियों के द्वार खोलकर खड़ा है, अर्थात् तेरी गुफायें दूसरों को शरणं देने के लिए हैं। तेरा शरीर सुदृढ़, पत्थर एवं धातु का बना हुआ है और तेरे अन्तस्तल में निर्मल-नीर बहता है अर्थात् तू ऊपर से कठोर पर भीतर से आर्द्र है। तू अटल-अचल और धीर-गंभीर है,

योगियों के समान शीत और गर्मी में समान है, शान्ति-सुख का सार है। तू गेरू आदि की लालिमा से रंजित है, तू वैराग्य का साधन और वन-धाम है। वैरागी लोग यहाँ वैराग्य प्राप्त करते हैं।' विरोधाभास का आश्रय लेकर अन्त में कहा गया है—

कामद होकर आप अकाम,
नमस्कार तुझको शत वार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार!

तू कामद होकर भी स्वयं निष्काम है। 'कामद' का श्लिष्ट प्रयोग यहाँ देखने योग्य है। 'कामद' चित्रकूट का एक नाम भी है तथा 'कामद' का अर्थ 'कामनाओं को पूर्ण करने वाला' भी है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि! जितनी भी प्रोषित-पतिकाएँ हों उन्हें निमन्त्रण दे आ और प्रेम-पूर्वक ले आ। समदुःखिनी मिले तो दुःख तो बटे। इस समय दुखी-जन ही मुझे सुख दे सकते हैं। यहाँ क्या कोई नहीं है जिसका अभाव मैं भी मेटूँ? मेरे दुःख को देखकर शायद और किसीका ही दुःख हलका हो जाय। इतनी बड़ी पुरी में क्या ऐसी दुःखिनी कोई नहीं जिसकी मैं सखी बनूँ और जो मुझ-सी ही हँसी-रोई हो? हे सखि! कहीं ऐसा न हो कि वियोग की वेदना में मैं अपनी ललित-कलायें भूल जाऊँ, इसलिए उपवन में ही पुर-बालाओं के लिए शाला क्यों न खुलवा दे जहाँ ललित-कलाओं का अभ्यास होता रहे? हे सखि! आज मेरे मन में चित्र-रचना की बड़ी उत्कट इच्छा पदा हो रही है। बतला, मैं वन का कौन-सा दृश्य दिखलाऊँ? क्या वह दृश्य दिखलाऊँ जहाँ रास्ते में नाला पड़ा हो, जेठ-जीजी (राम और सीता) किनारे खड़े हों और आर्य-पुत्र (लक्ष्मण) जल में अवगाहन करके थाह ले रहे हों? अथवा वह दृश्य दिखलाऊँ जहाँ सीता घूमकर प्रभु के सहारे खड़ी हों और स्वामी कराह करके तलवे से कण्टक निकालते हों?

किंवा वे खड़ी हों घूम प्रभु के सहारे आह,
तलवे से कण्टक निकालते हों 'ये' कराह?!

ऊपर की पंक्तियों में असंगति अलंकार है क्योंकि काँटा गड़ा है सीता के, कराह रहे हैं लक्ष्मण।

अथवा वह दृश्य दिखलाऊँ जहाँ आर्यपुत्र लता झुकाये खड़े हों, जीजी फूल ले रही हों और प्रभु वाह वाह दे हे हों!

ऊर्मिला प्रणय को संबोधित करके कहती है कि 'हे मेरे प्रेम! प्रिय ने अपने सहज गुणों से जो मुझे तेरी दीक्षा दी थी, आज प्रतीक्षा-द्वारा वे यहाँ मेरी परीक्षा ले रहे हैं। शब्दों द्वारा नहीं, प्रिय के गुणों द्वारा स्वतः मैंने प्रेम की शिक्षा पाई थी।'

जीवन के पहले प्रभात में जब मेरी आँख खुली अर्थात् पहले-पहल जब मैंने होश सँभाला, तब हरी-भूमि के पत्ते-पत्ते में मैंने अपनी ही हृद्‌गति के दर्शन किये थे अर्थात् मेरा मन भी वैसा ही हरा-भरा था।

जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी,
हरी भूमि के पात-पात में मैंने हृद्‌गति हेरी।

काव्य-परम्परा में व्रज-भाषा में व्यवहृत 'हेरी' ऐसी क्रियाएँ खड़ी बोली में भी गृहीत हुई हैं। 'पात' शब्द भी व्रज या अवधी का ही है, किन्तु 'पत्ते' की अपेक्षा श्रवण सुखद है। उस समय स्वर्ण-रश्मियाँ लेकर मेरी दृष्टि सृष्टि का चित्र खींच रही थी और प्रकृति सदय-हृदय में सेकर ब्रह्माण्ड का पालन कर रही थी।

खींच रही थी दृष्टि सृष्टि यह स्वर्ण-रश्मियाँ लेकर,
पाल रही ब्रह्माण्ड प्रकृति थी सदय-हृदय में सेकर।

कहने का तात्पर्य यह है कि मेरी आँखों के सामने सारी सृष्टि सुनहली एवं दीप्त दिखलाई पड़ती थी और प्रकृति का भी पालनकारी-स्वरूप ही मेरे सामने था। अंडे को सेकर पक्षी पालते हैं। विश्वरूपी अंडे को प्रकृति सदय-हृदय में सेकर पाल रही थी। मेरी भी वैसी ही सेवा हो रही थी। आकाश का भी पालक और रंजक स्वरूप ही मेरे सामने था। आसमान बूँद बूँद जल देकर तृण-तृण को सींचता हुआ जान पड़ता था और कालरूपी वायु मेरी सुख की नौका को बढ़ा रहा था— मेरे सुख में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही

थी। पक्षी भी अपने दल-बल सहित शुभ भावों की भेरी बजा रहे थे।

किन्तु शीतल-प्रभात के उपरान्त प्रखर-मध्याह्न भी आता ही है। ऊर्मिला कहती है कि हे सखि! अब यह जो श्रान्ति और क्लान्ति को लेकर आया है, वह जीवन का मध्याह्न है। खेद और प्रस्वेद पूर्ण यह तीव्र-ताप आज छाया हुआ है।

हमारे आनन्द के दिन तो चले गये! सर्वस्व खोकर बदले में मिली है यह व्यथा। हमें न माया मिली न राम! जीवन के पहले प्रभात में जब मेरी आँख खुली थी तो हर्ष मँडराया करता था। अब तो यह विषाद बाकी रह गया है। 'ते हि नो दिवसा गताः'

पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया?
रहे न हम में राम हमारे, मिली न हमको माया।
यह विषाद! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी?
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

आगे की पंक्तियों में मनोदशा के अनुरूप ही सृष्टि के पदार्थों का वर्णन हुआ है। ऊर्मिला कहती है कि वह कोयल जो कूक रही थी आज पीड़ा से हूक भरती है, पूर्व और पश्चिम की लालिमा क्रोधी की लाल-लाल आँखों के समान रोष-वृष्टि करती हुई जान पड़ती है। हवा ठंडी साँस ले रही है, सुरभि धूल फाँकती हुई जान पड़ती है। स्वच्छ वायु में ही गंध का प्रसार हो सकता है। विरहाग्नि के कारण पानी खौल-खौल कर सूखता हुआ मालूम होता है। पत्र-पुष्प सब बिखर रहे हैं, अब किसी की कुशल नहीं।

वह कोयल जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली रोष-वृष्टि करती है।
लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है,
उबल सूखती है जल-धारा, यह धरती मरती है।
पत्र-पुष्प सब बिखर रहे हैं, कुशल न मेरी-तेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

मध्याह्न के बाद सन्ध्या आती है। ऊर्मिला कहती कि—हे सखि ! देख, मेरे जीवन की सन्ध्या कौन-सा दृश्य सामने लाती है ? तू कहती है—'चन्द्रोदय होगा;' इस काली में उजियाली छा जायगी। यदि ऐसा हुआ तो कुमुदिनी तो चन्द्र-किरण को पाकर अवश्य सन्तुष्ट होगी, किन्तु विना सूर्योदय के चक्रवाक तो प्रसन्न हो नहीं सकता; उसके शोक की रखवाली तो तारे करेंगे ही। जब तक आसमान में तारे हैं, चक्रवाक का शोक कहाँ जा सकता है ? ऊर्मिला कहती है कि विना प्रभात हुए मेरे जीवन में सुख कहाँ ? जब सखी उसे आश्वासन देती है कि रात के बाद प्रभात तो अनिवार्य है, तब ऊर्मिला कहती है कि क्या सचमुच फिर प्रभात होगा ? अगर ऐसा है तो निश्चय ही यह दासी कृतार्थ हो जायगी।

आगे जीवन की सन्ध्या है, देखें क्या हो आली,
तू कहती है—'चन्द्रोदय ही काली में उजयाली !'
सिर आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली ?
किन्तु करेंगे कोक शोक की तारे जो रखवाली ?
'फिर प्रभात होगा' क्या सचमुच ? तो कृतार्थ यह चेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

ऊर्मिला के इस गीत में प्रेरक भाव प्रेम है। स्थायी-भाव रति के कारण अनेक अंतर्भावनाएँ संचारी के रूप में आई हैं। स्मृति-संचारी तो स्पष्ट ही है।

ऊर्मिला कहती है कि—हे सखि ! इस तोते को उड़ा दे—पक्षियों को परतन्त्र क्यों रक्खें, इन्हें भी अपनी स्वतन्त्रता का गर्व करने दे ! लक्ष्मण ने 'रूठो न रानी' कहकर कभी ऊर्मिला को मनाया होगा। तोता इसीकी नकल करना सीख गया। इसीलिए ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! इस शठ शुक की वाणी तो सुन—'हाय ! रूठो न रानी !' की रट लगा रहा है। फिर ऊर्मिला कहती है कि हे शुक ! पिंजरे से उड़ाकर जनकपुरी की मैना से तेरा विवाह कर दूँ ! फिर दूसरे ही क्षण सोचती है, उसका भी कहीं

वही परिणाम न हो जो मेरा हुआ। तू भी कहीं उस मैना को छोड़कर उड़ न जाय!

सखि, विहग उड़ादे, हों सभी मुक्तिमानी,
सुन शठ शुक-वाणी—'हाय! रूठो न रानी!'
खग, जनकपुरी की ब्याह दूँ सारिका मैं?
तदपि यह वहीं की त्यक्त हूँ दारिका मैं!

ऊर्मिला कहती है कि हे शुक! यह तो बता, आज तेरे वे आचार्य (जिनसे तूने बोलना सीखा है) कहाँ हैं? जो प्रसन्न मुखवाले और मेरे कर्मण्य पति हैं?—तोते का उत्तर है 'मृगया में।' इस पर ऊर्मिला कहती है कि यदि वे मृगया में हैं तो वे निश्चित ही नये शिकारी हैं, क्योंकि शिकारी तो शिकार को मारकर लाद ले जाते हैं, मारा हुआ शिकार छोड़ते तो नहीं। इस हत-हरिणी (ऊर्मिला) को यों ही छोड़कर वे क्यों चले गये?

कह विहग कहाँ हैं आज आचार्य तेरे?
विकच वदनवाले वे कृती कान्त मेरे?
सचमुच 'मृगया में'? तो अहेरी नये वे,
यह हत-हरिणी क्यों छोड़ यों ही गये वे?

ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है कि देख तो सही, यह मैना बिना कुछ कहे शान्त-सी हो रही है और मेरी तरफ इसने कान लगा रखे हैं। इधर मैं वियोग के कारण बावली-सी हो रही हूँ—न जाने, मेरे, मुहँ से क्या निकल जाय! यह मेरे ही वचनों को फिर फिर दुहराया करेगी। यह बड़ी सुभाषिणी बनी है, किन्तु है पूरी चुगलखोर। सखी ने कहा—'धृति धरो!' अर्थात् धैर्य धारण करो। मैना ने पक्षी-स्वभावानुसार अंतिम शब्द 'धरो' को ही पकड़ लिया और 'धरो-धरो' दुहराने लगी। इस पर ऊर्मिला कहती है कि हे खगि (मैना) किसे धरूँ? धृति अर्थात् धारण करने की शक्ति तो स्वामी अपने साथ ले गये!

निहार सखि, सारिका कुछ कहे विना शान्त-सी,
दिये श्रवण है यहीं, इधर मैं हुई भ्रांत-सी।
इसे पिशुन जान, तू, सुन सुभाषिणी है बनी—
'धरो!' खगि किसे धरूँ? धृति लिये गये हैं धनी!

राजपूताने की तरफ पति को 'धणी' कहते हैं। चतुर्थ पंक्ति में 'धनी' शब्द का प्रयोग गुप्तजी ने पति के ही अर्थ में किया है।

ऊपर के संवादों में कितनी रमणीयता है! पक्षी-जगत् और मानव-जगत् का यह हेल-मेल भी देखते ही बनता है।

ऊर्मिला खरगोश को सम्बोधन करके कहती है कि हे शशक, क्या तुम्हें पता है कि आज वे नाथ कहाँ हैं जो तुझ पर—मुझ पर यहाँ साथ हाथ फेरते थे? वे वन में हैं जो तेरी ही प्रिय जन्म-भूमि है। तुझको भी मैं छोड़ देती हूँ, तू भी जंगल की राह ले। जाकर स्वामी से निवेदन कर देना कि क्रूर ऊर्मिला मेरे साथ भी नहीं आई, वह अभी तक अयोध्या में ही है।

तुझ पर मुझ पर हाथ फेरते साथ यहाँ,
शशक, विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ?
तेरी ही प्रिय जन्म-भूमि में, दूर नहीं,
जा तू भी कहना कि ऊर्मिला क्रूर वहीं!

वस्तुतः देखा जाय तो न शशक वन में ही जायेगा और न ऊर्मिला का सन्देश ही लक्ष्मण को सुनायेगा। उस बेचारे में सन्देश सुनाने की शक्ति भी कहाँ? ये सब ऊर्मिला के भावावेश के उद्‌गार मात्र हैं। वह स्वयं उपालम्भ दे रही है अपने को कि सीता के साथ मैं भी वन में क्यों न चली गई?

फिर कपोत से कहती है कि कि जो सदा तुम्हारे गुण गाया करते थे, वे तुम्हें अपने साथ क्यों न ले गये? हे कपोत, तुम्हीं जाकर पति के पत्र मेरे लिए ला दो जो दुःख-रूपी समुद्र को पार करने के लिए जहाज का काम दे सकें।

लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत वे,
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे ?
लाते तुम्हीं हा ! प्रिय-पत्र पोत वे,
दुःखाब्धि में जो बनते सहारे।

किन्तु औरों को क्या कहा जाय, अपनी रुचि ही बदलती रहती है। हे चकोरी ! तू कभी चन्द्रामृत पीकर कभी अंगार चखने लगती है।

औरों की क्या कहिए, निज रुचि ही एकता नहीं रखती ?
चन्द्रामृत पीकर तू चकोरि, अंगार है चखती !*

ऊर्मिला पहले कह चुकी है—

सखि, विहग उड़ा दे, हों सभी मुक्तिमानी।

दया प्रेरणा करती है कि पिंजड़े के पक्षियों को छोड़ दिया जाय, किन्तु ऊर्मिला सोचती है कि अब तो ऐसा करना इनके प्रति निर्दयता दिखलाना होगा; क्योंकि इतने समय तक बद्ध रहने के कारण ये उड़ना भी भूल गये हैं, छोड़ देने पर कौवे इन्हें मार डालेंगे। इनके परिजन इन्हें भूल गये हैं, ये अपने परिजनों को भूल गये हैं। अब तो हमीं इनके साथी-संगी रह गये हैं।

विहग उड़ना भी ये हो बद्ध भूल गये, अये,
यदि अब इन्हें छोड़ूँ तो और निर्दयता दये !
परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हें, सब हैं बहे ;
बस अब हमीं साथी-संगी, सभी इनके रहे।

दूसरी पंक्ति में 'दया' का सम्बोधनांत-रूप 'दये' द्रष्टव्य है। ऊर्मिला 'लाल' नामक पक्षियों को सम्बोधित करके कहती है—

मेरे उर अंगार के, बने बाल-गोपाल ;
अपनी मुनियों से मिले, पले रहो तुम लाल !

---

*चुलुकयसि चन्द्रदीधीतिम विरलमश्नासि नूनमङ्गारन् !

'लाल' एक प्रसिद्ध छोटी चिड़िया होती है जिसका शरीर कुछ भूरापन लिये लाल-रंग का होता है और जिस पर छोटी-छोटी सफेद बुँदकियाँ पड़ी रहती हैं। यह बहुत कोमल तथा चंचल होता है और इसकी बोली बहुत प्यारी होती है लोग इसकी मादा को 'मुनियाँ' कहते हैं।

ऊर्मिला कहती है कि हे लाल पक्षियो! तुम मेरे हृदय के अंगार के टुकड़े-से जान पड़ते हो; मेरे हृद्गत ताप के तुम व्यंजक हो, अतः अपनी मुनियों से मिले हुए तुम यहीं पले रहो।

परिवार के छोटे बाल-बच्चों के लिए 'बाल-गोपाल' शब्द का प्रयोग किया जाता है, यहाँ लक्षणा से 'बाल-गोपाल' छोटे टुकड़े अथवा चिनगारियों के अर्थ में प्रयुक्त है। आगे वाले गीत में वेदना को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है—

वेदने, तू भी भली बनी!
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह 'हीर-कनी',
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी!
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपन-मनी!
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्ट-जनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!
अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को जगती को देखूँ खिची-तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी छोड़ूँ, जब सजनी पाऊँ प्राण घनी।

ऊपर के गीत में प्रेम की मनोवृत्ति के स्वरूप का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। ऊर्मिला कहती है कि हे वेदने! तू ही मुझे इस समय प्रिय है चाहे लोग तुझे बुरा क्यों न बतलाएँ। अपनी घनी

इच्छा को मैंने आज तुझमें ही प्राप्त किया है। तू वह हीर-कनी है जिसने मेरे हृदय में नई ज्योति जगाई है। तीर की नोक-सी मेरे हृदय में कसकने वाली हे वेदने! तू हृदय को सालती रह, जिससे मैं सजग बनी रहूँ। (वेदना को विशिख-अनी के रूप में मूर्त्त-रूप दिया जा रहा है।) तेरे ही कारण मैं मरूँगी नहीं। पानी से बराबर भींगने वाली वस्तु ठंडी पड़ जाती है, पर वेदना के कारण उसमें गर्मी रहेगी ही। ऊर्मिला कहती है कि हे मेरी सूर्य-कान्त मणि! तू ही मेरी देह को उष्ण बनाये रक्खेगी। सूर्य की किरणों को समेट कर वस्तुओं को गर्म करने की शक्ति सूर्य-कान्त मणि में है, वेदना में भी उष्णता है—इसलिए वेदना को सूर्य कान्त-मणि कहना उचित ही है। हे वेदने! अभाव तेरा पिता है, और अदृष्टि (अदर्शन) तेरी माता है। प्रिय के अभाव और अदर्शन के कारण ही वेदना का जन्म होता है। तेरी छाती को ही स्तनों की उपमा दी जा सकती है। जैसे माता अपने बच्चे को छाती से चिपकाये रहती है, वैसे ही तूने मुझे अपना रक्खा है। और सबसे मेरा साथ छूट गया है, तू ही मेरा साथ नहीं छोड़ रही है। 'उपमोचितस्तनी' जैसे समासांत और कर्णकटु प्रयोग गीति-काव्य में खटकते हैं।

ऊर्मिला कहती है कि वेदना के कारण योगियों की समाधि-दशा-सी मेरी दशा हो रही है। समाधि में योगी सब भौतिक पदार्थों से अपना मन खींच कर ब्रह्म में स्थिर रहता है, उसी प्रकार ऊर्मिला भी अपने आपे में नहीं है। अपने को, प्रिय को, जगती को—सबको दूर देख रही है। विना वेदना के मन का का सच्चा-रूप व्यक्त नहीं होता। इसीलिए ऊर्मिला कहती है कि हे रत्नों की खान वेदने! मन जैसा माणिक मैंने तुझीसे प्राप्त किया। हे सजनी! मैं तुझे तभी छोड़ सकती हूँ जब प्राणेश्वर को पाऊँ।

आगे के गीत में भी ऊर्मिला कह रही है कि इस संसार में केवल दुःख ही दुःख नहीं है, दुख के साथ भलाई भी है; वियोग के साथ मिलन भी है—

विरह संग अभिसार भी ,
भार जहाँ आभार भी !
मैं पिंजड़े में पड़ी हुई हूँ किन्तु खुला है द्वार भी ,
काल कठिन क्यों न हो किन्तु है मेरे लिए उदार भी ।
जहाँ विरह ने गार दिया है किया वहाँ उपकार भी ,
सुध-बुध हर ली, किन्तु दिया है काल-ज्ञान विचार भी ।
बना दिया है उसने मुझको जन जीवन है भार भी ,
और मरण ? वह बन जाता है कभी हिये का हार भी ।
जाना मैंने इस उर में थी, ज्वाला भी, जलधार भी ,
प्रिय ही नहीं यहाँ मैं भी थी और एक संसार भी ।

'द्वापर' में भी गुप्तजी ने 'बलिहारी, बलिहारी, जय-जय गिरिधारी गोपाल की' द्वारा इसी गीत को अपनाया है । ऊर्मिला के कहने का तात्पर्य यह है कि दुनियाँ में जहाँ विरह है, वहाँ मिलन भी है । मिलन की उत्कण्ठा का जो महत्त्व है उसकी प्रतीति विरह में ही होती है । भार-वहन करके, अपने दायित्व और कर्तव्य का सम्यक् पालन करके जो कष्ट उठाया जाता है, उसमें दूसरों को कृतज्ञ बनाने की क्षमता भी है । यद्यपि मैं इस शरीर रूपी पिंजड़े में आबद्ध हूँ किन्तु मेरे मन का द्वार उन्मुक्त है । विरह-काल चाहे मेरे लिए कठिन क्यों न हो किन्तु वह मेरे लिए उदार भी है । स्मृति का सच्चा आनन्द विरह में ही प्राप्त होता है । विरह ने जहाँ मेरी देह को निचोड़ दिया है, जीवन के सत्त्व को खींच लिया है, वहाँ उसने उपकार भी किया है । यद्यपि इस वियोग ने मेरी सुध-बुध हर ली है तो भी इसने मुझे काल-ज्ञान विचार भी दिया है । जीवन में कब कैसी परिस्थितियाँ आती हैं, इसकी प्रतीत भी मुझे हो रही है । विरह ने मुझे बतला दिया है कि जन-जीवन भार-स्वरूप है और मरण कभी-कभी हृदय का हार भी बन जाता है । इसीलिए गुप्तजी की

यशोधरा ने कहा है—'मरण सुन्दर बन आया री !' मैंने समझ लिया कि इस हृदय में ज्वाला थी और उसको बुझाने के लिए आँसू भी थे। अन्तिम पंक्ति में विरहिणी कहती है कि प्रिय की, मेरी तथा संसार की सत्ता की सम्यक्प्रतीति वियोग में ही मुझे हुई।

इस गीत की एक पंक्ति में 'जना दिया है' का प्रयोग गुप्तजी ने किया है जो प्रांतीय पूर्वी प्रयोग है। शिष्ट-प्रयोग 'जता दिया है' होना चाहिए। 'जानना' का प्रेरणार्थक रूप है 'जनाना' उसीको लेकर 'जना दिया है' का प्रयोग किया गया है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! देख, लाल लेख लिखकर दिन डूब गया है। उसके डूबने से आकाश-रूपी समुद्र में जो बुलबुले उठे हैं, वे ही ये तारे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने पीछे लालिमा या दुःख छोड़कर सूर्य अस्त हो गया। दुःख की बात रुधिर से लिखी जाती है।*

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा !

व्योम-सिन्धु सखि, देख, तारक-बुदबुद दे रहा !

ऊर्मिला अपनी मनोदशा के अनुसार ही सायंकालीन लालिमा को दुःख के लेख के रूप में देखती है।

सखी जब दीपक जलाती है तब ऊर्मिला कहती है कि दीपक जलाने से पतंगों की हत्या होगी; हिंस्र-वृत्ति या उग्रता से नहीं,

---

* दमयन्ती को छोड़ते समय नल भी उसके वक्ष पर अपने रुधिर से लिख गया था—

"वड-रुक्खह दाहिण दिसिहि जाइ विदब्भहि मग्गु,
वाम-दिसिहि पुण कोसलिहि जाइ रुच्चइ तहिं लग्गु।

अर्थात् वट वृक्ष से दक्षिण दिशा में विदर्भ के रास्ते चली जाना; फिर बायीं दिशा में कौशल को चली जाना। जहाँ तुम्हारी रुचि हो, उधर जाना।"

(स्व० पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा उद्धृत नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २ सं० १९७८ पृ० १४२)

सतोगुण से तमोगुण को जीतना चाहिए। और फिर विना प्रिय के जो मेरे रूप को देखने के लिए भी यहाँ नहीं हैं, हमें प्रकाश का करना भी क्या है ?

दीपक-संग शलभ भी, जला न सखि, जीत सत्व से तम को,
क्या देखना-दिखाना, क्या करना है प्रकाश का हमको ?

तमोगुण और अंधकार दोनों के अर्थ में 'तम' का श्लिष्ट प्रयोग यहाँ हुआ है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! पतंग और दीपक दोनों की ओर से प्रेम का पालन होता है। प्रेम में पतंग भी जलता है, दीपक भी जलता है।

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है, हा ! दीपक भी जलता है।

दीपक अपना सिर हिलाकर पतंग से कहता है कि हे बन्धु, तू व्यर्थ ही क्यों जलता है ? किन्तु फिर भी पतंग जले विना नहीं रहता ! प्रेम की कितनी विह्वलता है !

सीस हिला कर दीपक कहता—
'बन्धु, वृथा ही तू क्यों दहता !'
पर पतंग पड़कर ही रहता।
कितनी विह्वलता है !
दोनों ओर प्रेम पलता है !

'सीस से तात्पर्य यहाँ दीपक की लौ से है।

पतंग यदि अपने आपको दीपक पर निछावर न करे, प्रेम छोड़कर प्राण-धारण करे, तो उसका इस प्रकार बचना उसके लिए मरण-तुल्य होगा। उसकी सफलता तो दीपक पर बलिदान होकर प्रेम-पालन करने में ही है।

बचकर हाय ! पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?

क्या यह असफलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है !

'बचकर मरे' तथा 'जले नहीं तो मरा करे' में विरोधाभास का चमत्कार है।

उन्मन होकर पतंग कहता है कि हे प्यारे ! तुम महान हो और मैं लघु हूँ, पर क्या मरण भी मेरे हाथ नहीं है ? तात्पर्य यह है कि अधिकारी न होने पर भी मैं प्रेम तो कर चुका, तुम अंगीकार चाहे करो या न करो, मरकर भी इसे निभाना तो मेरे हाथ में है। मृत्यु की शरण में जाने पर किसी प्रकार का धोखा मुझे नहीं होगा।

कहता है पतंग मन मारे—
'तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे ?

शरण किसे छलता है ?'
दोनों ओर प्रेम पलता है !

'शरण किसे छलता है' यह उखड़ा हुआ-सा वाक्य है; और हिन्दी की प्रकृति के भी उतना अनुकूल नहीं। हिन्दी में 'शरण' स्त्रीलिंग शब्द है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! दीपक के जलने में भी क्या शान है ! किस दिव्य आभा से दीपक जलता है, पर पतंग का भाग्य दीपक की तरह उज्ज्वल नहीं, काला है। पतंग जलकर राख हो जाता है। अपने अपने भाग्य की बात है। प्रेम का पालन दोनों करते हैं; पर दीपक के जलने में भी जीवन की लालिमा है।

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली।
किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली,
किसका वश चलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

पर खटकने वाली बात यह है कि संसार लेन-देन का व्यवहार ही जानता है। दीपक से अंधकार दूर होता है, इससे संसार उसीका गुण-गान करता है। अच्छे से अच्छे काम से भी स्वार्थ सिद्ध न होने पर दुनिया उसकी सराहना नहीं करती!

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती।
काम नहीं परिणाम निरखती,
मुझे यही खलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।

गुप्तजी का यह गीत अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ है।

ऊर्मिला की सखी कहती है कि अरी, रात को क्षण-क्षण में तू तो चौंक रही है, जिस पर ऊर्मिला की उक्ति है—

क्या क्षण-क्षण में चौंक रही मैं?
सुनती तुझसे आज यही मैं।
तो सखि क्या जीवन न जनाऊँ?
इस क्षणदा* को विफल बनाऊँ।

चौंकने से यह तो विदित होता है कि मैं मर नहीं गई हूँ, नहीं तो मेरे जीने और मरने में अन्तर ही क्या! रात्रि मेरे लिए

* 'क्षणदा' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—क्षणं द्यतिखण्डयति इति क्षणदा, अथवा क्षणं उत्सवं ददाति इति क्षणदा—रात के बीतने पर ही दिन समाप्त हुआ माना जाता है।

क्षणदा (आनन्द-दायिनी) नहीं, दुःखदा है, फिर इसके दुख देने के प्रयत्न को व्यर्थ क्यों करूँ ? अगर बराबर सोती ही रहूँगी तो रात्रि दुःख कैसे दे सकेगी ?

फिर बगीचे की सुगन्धि को संबोधित करके कहती है—

अरि, सुरभि, जा लौट जा, अपने अंग सहेज ,
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज !

हे सुरभि ! यहाँ से लौट जा, अपने अंगों को सम्हाल। तू फूलों में पली हुई है, यहाँ काँटों से तेरा अंग-प्रत्यंग छिल जायगा।

प्रिय के साथ जो आनन्द के दिन बिताये थे, वे अब स्वप्नवत् हो गये हैं और जिसका कभी अनुमान भी नहीं किया था, वह (प्रिय-वियोग) आज यथार्थ हो गया है। हे सखि ! प्रिय के साथ वाले दिनों की बातों में ही मेरा जी लगता है। पुरानी होती हुई भी वे बातें मेरे लिए नित्य नवीन हैं।

यथार्थ था सो सपना हुआ है ,
अलीक था जो अपना हुआ है ।
रही यहाँ केवल है कहानी ,
सुना वही एक नई पुरानी ।

'नई-पुरानी' में विरोधाभास है।

प्रिय न आये तो न सही, हे प्रिय के विराट्-स्वप्न ! तुम्हीं आओ ! आँसुओं का अर्घ्य लिये हुए आँखें तुम्हारी बाट देख रही हैं।

आओ हो, आओ तुम्हीं, प्रिय के स्वप्न-विराट ,
अर्घ्य लिये आँखें खड़ी, हेर रही हैं बाट ।

इसके बाद बच्चों की बोली में ऊर्मिला निद्रा का आह्वान करती है—

आ जा मेरी निंदिया गूँगी !
आ, मैं सिर आँखों पर लेकर, चन्द-खिलौना दूँगी !
प्रिय के आने पर आवेगी ,
अर्द्ध-चन्द्र* ही तो पावेगी ।
पर यदि आज उन्हें लावेगी ,
तो तुझसे ही लूँगी ।
आ जा मेरी निंदिया गूँगी !

अर्थात् हे मेरी गूँगी निद्रा ! आ जा । मैं तुझे सिर-आँखों पर लेकर चन्द्र-खिलौना दूँगी। यदि प्रिय के आने पर तू आवेगी तो तुझे गरदन पकड़ कर निकाल दिया जायगा । प्रिय के आने पर तो निन्द्रा के लिए अवकाश रहेगा ही कहाँ ! बातों ही बातों में रात कट जायगी । जाग्रत दशा में तो प्रिय अप्राप्य हैं, इसलिए स्वप्न में देखकर ही संतोष कर लूँगी।

पलक पाँवड़ों पर पद रख तू ,
तनिक सलोना रस भी चख तू ।
आ, दुखिया की ओर निरख तू ,
मैं न्योंछावर हूँगी ।
आ जा मेरी निंदिया गूँगी ।

हे नींद ! पलकों पर पैर रखती हुई आ जा और सलोना-रस अर्थात् इन खारे आँसुओं को भी चख ! आ इस दुनियाँ की ओर देख ! मैं तुझ पर निछावर हूँगी। हे मेरी गूँगी निद्रा ! आ जा ।

'न्योंछावर' पूर्वी प्रयोग है। शिष्ट भाषा में 'निछावर' होता है। इसमें सलोना (खारा) शब्द श्लेष-युक्त है ।

---

* किसीको किसी स्थान से गरदन पकड़ कर या गरदन में हाथ डाल कर निकालने की क्रिया को अर्द्ध-चन्द्र देना कहते हैं । इसे 'गर्दनिया देना' भी कहा जाता है। 'चन्द्र-खिलोना' और 'अर्द्ध-चन्द्र' शब्दों द्वारा पूरे चन्द्रमा और आधे चन्द्रमा का अर्थ भी ध्वनित हो रहा है।

ऊर्मिला कहती है कि सखि! छाती पर हाथ रखकर सोने से भी तू मना करती है, क्योंकि तू कहती है कि ऐसा करने से दुःस्वप्न आते हैं। (प्रचलित लोक-विश्वास की ओर संकेत है।) इसलिए असह्य-वेदना को रोकने के लिए हृदय को थामकर भी मैं पड़ नहीं सकती।

'हाय हृदय को थाम, पड़ भी मैं सकती कहाँ ?
दुःस्वप्नों का नाम, लेती है सखि, तू वहाँ।'

तेल दीपक की बत्ती को जलाता है, फिर भी इसमें वह शक्ति है जिसके कारण सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु दिखाई पड़ जाती है। 'स्नेह' शब्द का प्रयोग यहाँ 'तेल' और 'प्रेम' दोनों के अर्थ में हुआ है। हृदय-रूपी घर में जब प्रेम की बत्ती जलती है तो मनुष्य का अन्तःकरण बहुत स्वच्छ हो जाता है। उसकी दृष्टि बहुत सूक्ष्म हो जाती है।

स्नेह जलाता है यह बत्ती!
फिर भी वह प्रतिभा है इसमें दीखे जिसमें राई-रत्ती।*

ऊर्मिला कहती है कि हे दीपक की बत्ती! इस अन्धकार में तू प्रकाश फैलाती रहती है और प्रातःकाल सूर्योदय के समय अपने को राख करके सूर्य के चरणों में मिल जाती है।

रखती है इस अन्धकार में सखि, तू अपनी साख,
मिल जाती है रवि-चरणों में कर अपने को राख।
खिल जाती है पत्ती-पत्ती,
स्नेह जलाता है यह बत्ती!

---

* सखि पति-विरह हुताशः किमित प्रशमं नयति नयनोदैः।
शृणु कारणं नितम्बिनि मुंचसि नयनोदकं तु सस्नेहं॥

(विरहिणी अपनी सखी से कहती है कि आँखों से सतत अश्रु-धारा गिरने पर भी विरहाग्नि शांत क्यों नहीं होती? सखि उत्तर देती है कि तुम्हारे नेत्रों का जल स्नेह-सहित गिरता है। 'स्नेह' का श्लेष ध्यान देने योग्य है!)

आध्यात्मिक अर्थ यह ध्वनित होता है कि भगवत्प्रेमी भी प्रेम की साधना में अपने को मिटाकर आत्म-ज्योति को बड़ी ज्योति में मिला देता है जब कि उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है।

हे दीपक की बत्ती! तेरा प्रकाश क्षुद्र है तो क्या, मैं तुझे बुझने नहीं दूँगी; तू मेरे अंचल की ओट ले ले। थोड़े-थोड़े से क्रमशः बहुत बड़ा संचय हो जाता है; तेरे थोड़े-थोड़े प्रकाश से बड़े प्रकाश का प्रादुर्भाव होगा! हे बत्ती, तू ठंडी न पड़, तप्त बनी रह।

होने दे निज शिखा न चंचल, ले अंचल की ओट,
ईंट ईंट लेकर चुनते हैं, हम कोसों का कोट।
ठंडी न पड़, बनी रह तत्ती,
स्नेह जलाता है यह बत्ती!

ऊपर की जिन पंक्तियों में श्लेष के बल से दूसरा अर्थ व्यंजित होता है, वहाँ समासोक्ति-अलंकार समझना चाहिए।

ऊर्मिला कहती है कि स्वप्न भी न आया और रात बीत गई। स्वप्न में भी प्रिय से मिलन न हुआ। रात तो किसी तरह तारे गिन-गिन कर काट दी, अब प्रातःकाल क्या गिनूँ? और इस पहाड़ से दिन को कैसे काटूँ?

हाय न आया स्वप्न भी, और गई यह रात,
*सखि उडुगन भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात?**

---

* (१) आज रैन नहिं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे, रसना रटत गोविंद हरी।
(सूरदास)

(२) किं च प्राण समान कांक्षितवती स्वप्नेऽपि ते संगमं।
निद्रां वांच्छति न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि॥

(३) याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माक तु गते कांते गता निद्रापि वैरिणी॥

कैसी विवशता है !

इसके आगे प्रातःकाल का वर्णन प्रारम्भ होता है।

चंचल भी किरणों का चरित्र क्या ही पवित्र है भोला,

देकर साख उन्होंने उठा लिया लाल-लाल वह गोला ?*

"लोग अपनी सचाई की परीक्षा देने के लिए, कहते हैं गोले को अग्नि में लाल करके हाथ से उठा लेते थे। इस क्रिया से 'साँच को आँच नहीं आती' थी। चंचल किरणें अपने पवित्र चरित्र की, उसी बालारुण के गोले को उठाकर साख भर रही हैं। राजस्थानी में इस विधि को संभवतः 'धीज' कहते हैं।" (लेखक के नाम लिखे हुए श्रीगुप्तजी के पत्र से उद्धृत)

हे सखि ! इस नभ-रूपी नील-सरोवर में 'यह सूर्य-रूपी हंस तैरता तैरता उतरा है। इसने तारे रूपी सब मोती चुग लिये हैं। इस पृथ्वी पर के जो ओस-कण बचे थे, उनका भी सफाया करता यह चलता है, क्योंकि ओस-कण भी मोती की तरह ही चमक रहे हैं। भाव यह है कि ओस भी रवि-रश्मियों से ही सूखती है। आकाश तो निष्कण्टक है, पर इस पृथ्वी के कण्टकाकीर्ण होने के कारण यह डरता-डरता अपने हाथ डाल रहा है।

---

* इस पद्य का भावार्थ मुझे पहले पहल प्रो० नरोत्तमदास जी स्वामी एम० ए० के सौजन्य से प्राप्त हुआ था। उन्हींके शब्दों में "प्राचीन काल में सतीत्व की साक्षी देने के लिए कई 'दिव्यों' का उपयोग किया जाता था जिनमें एक था जलते गोले को हथेली लेकर नियत दूरी तक चलना। यदि उतनी दूरी तक अभियुक्त स्त्री गोले को उठाये हुए सही सलामत चली जाती तो पवित्र समझी जाती थी। ये किरणें सूर्य रूपी जलते गोले को उठा कर चलती ही रहती हैं। जो नारी चंचल होती है वह पवित्र या सरल चरित्र वाली नहीं होती पर ये किरणें यद्यपि चञ्चल हैं, फिर भी दुष्ट चरित्रवाली नहीं।" विरोधाभास अलङ्कार है।

सखि नील-नभस्सर में उतरा यह हंस अहा तरता-तरता ,
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिम-बिंदु बचे तब भी चलता उनको धरता-धरता ,
गड़ जायँ न कण्टक भू-तल के, कर डाल रहा डरता-डरता!

ऊपर के सवैये में श्लेष-लाघव से रूपक तो सिद्ध हो गया (नहीं तो कहना पड़ता सूर्य-रूपी हंस) पर बेचारे हंस की दुर्दशा हो गई। दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि हंस तारे-रूपी मोतियों को चरता चरता निकला। 'चरना' शब्द बैलों के लिए आता है, हंस के लिए तो मोती चुगना ही प्रयुक्त होता है। 'कर डाल रहा डरता-डरता' में भी 'कर' श्लिष्ट शब्द है जो हाथ और किरण दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर यहाँ भी देखने की बात यह है कि हंस पञ्जे से मोती नहीं चुग सकता, चोंच से ही चुग सकता है।

वैसे नादसौन्दर्य आदि की दृष्टि से यह दुर्मिल सवैया बड़ा सुन्दर बन पड़ा।

सखि! क्या यह भ्रमरी भी मेरी तरह रोई है जो इसकी पाँख आँसुओं से भीगी हुई है? अथवा यह पाँख पुष्प-रज से सनी हुई है? और हे सखि, जैसे मेरी आँख प्रिय के मार्ग को ताका करती है; उसी तरह इस कमलिनी की आँख भी खुली हुई है अथवा अपने किसी प्रेमी की ओर लगी हुई है?

भीगी या रज में सनी, अलिनी की यह पाँख?
आलि, खुली किंवा लगी नलिनी की वह आँख?

ऊर्मिला कहती है, भौंरी की यह पाँख ओस से भींगी कही जाय अथवा पुष्प धूलि से धूसर? भौंरों की पाँख प्रातःकाल फूल में पड़ी हुई ओस से भींगी भी है और धूल में सनी भी जैसे कमलिनी की आँख खुली भी है और लगी भी।

ऊपर के पद्यों में प्रातःकाल का वर्णन कवि ने किया है। ऊर्मिला अपनी मनोदशा के अनुकूल ही सब वस्तुओं को देखती है।

इसके बाद ऋतु-वर्णन प्रारम्भ होता है। सबसे पहले ग्रीष्म को लेकर कहा गया है—

ओहो! मरा वह वराक वसन्त कैसा?
ऊँचा गला रुँध गया अब अन्त जैसा।
देखो, बढ़ा ज्वर जरा-जड़ता जगी है,
लो ऊर्ध्व साँस उसकी चलने लगी है!

अब यह बेचारा वसन्त तो मरा! मरने के समय जैसे गला रुँध जाता है, वैसे ही वसन्त का भी ऊँचा गला अब रुँध गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि वसन्त में जो कोकिल पंचम-स्वर में बोल रही थी, अब वह बिलकुल चुप है। वसन्त अब मरणासन्न है। मृत्यु के समय जिस प्रकार ज्वर बढ़ जाता है और ऊँची साँसें चलने लगती हैं, उसी प्रकार वैसाख के बाद गर्मी बढ़ गई है।

आगे की पंक्तियों में ग्रीष्म की योगी के रूप में कल्पना की गई है।

तपोयोगि, आओ तुम्हीं, सब खेतों के सार,
कूड़ा-कर्कट हो जहाँ, करो जलाकर छार।

हे ग्रीष्म रूपी योगी! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारे विना खेतों की उर्वरा-शक्ति नष्ट हो जाती है, इसीलिए तुम सब खेतों के सार हो। जिस तरह योगी वासनाओं को जला डालता है, मन के विकारों को भस्म कर डालता है, उसी तरह तुम भी; जहाँ-जहाँ कूड़ा-कर्कट हो; उसे जलाकर खाक बना डालो।

सखि ऊर्मिला को सलाह देती है कि वह गर्मी से बचने के लिए खस की टट्टी का प्रयोग करे—इस पर ऊर्मिला कहती है—

आया अपने द्वार तप, तू दे रही किवाड़।
सखि, क्या मैं बैठूँ विमुख ले उशीर की आड़?

ग्रीष्म-रूपी योगी अपने द्वार पर अतिथि बनकर आया है, तू इसका अनादर कैसे कर रही है? हे सखि! अतिथि का स्वागत न

करके, उससे विमुख हो, क्या खस की टट्टी की ओट में बैठ जाना मेरे लिए उचित होगा? तपोयोगियों का कभी अनादर नहीं किया करते।

गर्मी से बचने के लिए ऊर्मिला की सखी जब उसे तहखाने (शरद-खाने) में जाने के लिए कहती है, तब ऊर्मिला उत्तर देती है—

ठेल मुझे न अकेली अन्ध-अवनि-गर्भ-गेह में आली!
आज कहाँ है उसमें हिमांशु-मुख की अपूर्व हरियाली?

हे सखि! मुझे अकेले तहखाने में मत ठेल। तहखाने* को प्रकाशित करने वाला प्रिय का मुख-चन्द्र तो आज वहाँ है ही नहीं, फिर वहाँ जाकर क्या करूँ?

आगे की पंक्तियों में सूर्य की मकड़े के रूप में और पृथ्वी की मक्खी के रूप में कल्पना की गई है—

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना;
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही।

यह अकाश सूर्य-रूपी मकड़े का जाल है जो सब ओर तना हुआ है। मक्खी की तरह फँसी हुई पृथ्वी को यह सूर्य-रूपी मकड़ा अपने किरण-रूपी पैरों से मार रहा है। गुप्तजी ने ऊपर की पंक्तियों में बड़े विराट-रूपक का प्रयोग किया है।

गर्मी की लपट से पेड़ जला ही चाहते हैं, नदी-नद भी घट कर सूख चले हैं। जल के अभाव में मृग और मीन विकल होकर मरणासन्न हो रहे हैं, पर मेरी आँख व्यर्थ ही जल से भरी है—

* जमीन के नीचे बने हुए घर को तहखाना कहते हैं। धूप की गर्मी से बचने के लिए लोग ऐसे घरों में विश्राम लेते हैं। राजस्थान में तहखाने के अर्थ में 'शरद्‌खाना' शब्द का व्यवहार होता है।

लपट से झट रूख जले-जले ,
नद-नदी घट सूख चले-चले ।
विकल वे मृग, मीन मरे-मरे ,
विफल ये दृग दीन भरे-भरे !

अंतिम दो पंक्तियों से तात्पर्य यह है कि मृग और मीन जो मेरे नेत्रों के उपमान हैं, जल के अभाव में मरणासन्न हैं पर मेरी ये आँखें जो उपमेय हैं, आँसुओं से भरी हैं। उपमान और उपमेय दोनों विरुद्ध दशा में हैं !

'जले-जले' आदि में जो द्विरुक्ति है वह आसन्नता-द्योतन के लिए है। 'जले-जले' का अर्थ 'अब जले, अब जले' अर्थात् जलने ही वाले हैं।

गर्मी में या तो इतने जोर की आँधी चलती है कि पेड़, तक उखड़ जाते हैं, या हवा इस प्रकार बन्द हो जाती है कि पत्ता भी नहीं हिलता। ऊर्मिला कहती है कि यह गर्मी की हवा मेरी राख उड़ाये बिना न जायगी ? 'धूल उड़ाना' एक मुहावरा भी है जिसका अर्थ भी ध्वनित हो सकता है।

या तो पेड़ उखाड़ेगा, या पत्ता न हिलायगा ,
बिना धूल उड़ाये हा ! ऊष्मानिल न जायगा !

व्यंजना यह भी है कि वियोग के ताप के ऊपर यह हवा का ताप मुझे जलाकर ही रहेगा।

जो भरता है, वह खाली भी होता है। इसी सिद्धान्त को लेकर घर की वापिका (बावली) कहती है कि जब मैं भरी रही तब खाली भी क्यों न हूँगी ? भरी रहने की अवस्था में मैंने जिन लोगों को पंकज दिये थे, अब उन्हें ही कीचड़ भी मुझसे लेना होगा। जिससे उत्तम वस्तुएँ प्राप्त कीं, उससे बुरी भी लेनी पड़ती है।

गृहवापी कहती है—'भरी रही, रिक्त क्यों न अब हूँगी ?
पंकज तुम्हें दिये हैं, और किसे पंक आन मैं दूँगी ?'

कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रीष्म-ऋतु में घर की वापिका भी सूख गई है और उसमें कमलों के स्थान पर केवल कीचड़ ही रह गया है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! सुख भी जब मैंने ही भोगे हैं तो भला दुःख क्यों न भोगूँगी ?

दिन जो मुझको देंगे, आलि, उसे मैं अवश्य ही लूँगी,
सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूँगी ?

यहाँ मति संचारी है।

हे सखि ! इसी गृह-वापी में हंस बने हमने वार-वार विहार किया था। जल-क्रीड़ा के समय के उन छींटों की सुध करके मेरे ये अंग आज भी काँप उठे हैं।

आलि, इसी वापि में हंस बने हम वार-वार विहरे,
सुध कर उन छींटों की मेरे ये अंग आज भी सिहरे !

यहाँ पर कम्प सात्त्विक अनुभाव है।

सखी ऊर्मिला को चन्द्रकान्त-मणियों के आभूषण पहनाना चाहती है, जिसमें विरह-ताप की ज्वाला मन्द पड़ जाय और उसे शीतलता का अनुभव हो सके। इस पर ऊर्मिला कहती है—

चन्द्रकांत-मणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार,
चन्द्रकांत आवें प्रथम, जो सबके शृंगार।

दूर हटा इन चन्द्रकान्त-मणियों को, तेरा यह व्यापार मुझे पत्थर मारने के समान जान पड़ता है। चन्द्र के समान कमनीय मेरे प्रिय जो सबके शृंगार हैं, वे तो पहले आ लें। बिना चन्द्रकान्त (लक्ष्मण) कैसी चन्द्रकान्त-णियाँ ! अलंकार तो हैं लेकिन अलंकारों के लिए उपयुक्त मनोदशा और वातावरण भी तो होना चाहिये। ध्वन्यालोककार ने इस सम्बन्ध में कहा है—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम्॥

(ध्वन्यावलोक II. ६.)

अर्थात् रसभावादि तात्पर्य का आश्रय लेकर अलंकारों का संनिवेश किया जाना चाहिए; तभी वे अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

विरह के उपचार के लिए सखी ऊर्मिला की छाती पर चन्दन चढ़ाना चाहती है। ऊर्मिला जब ऐसा करने से मना करती है, तब सखि कहती है कि चन्दन चढ़ाने से तो हृदय-स्थित स्वामी की पूजा होगी। इसपर ऊर्मिला कहती है कि चन्दन क्या, सारा मन ही उन पर चढ़ा दिया जाय—

हृदयस्थित स्वामी की स्वजनि, उचित क्यों नहीं अर्चा,
मन सब उन्हें चढ़ावे, चन्दन की एक क्या चर्चा ?

इस सर्ग में प्रसंग का आक्षेप कई जगह ऊपर से कहना पड़ता है, जैसे ऊपर की पंक्तियों में किया गया है।

कपूर की बत्ती को संबोधित करके ऊर्मिला कहती है—

बँध कर घुलना अथवा, जल पल भर दीप-दान कर खुलना,
तुझको सभी सहज है, मुझको कर्पूरवर्ति, बस घुलना !

अर्थात् हे कपूर की बत्ती ! बन्द रहने पर तो तू गल जाती है, खुलने पर, हाँ प्रकाश भी करती है। पर मेरे लिए तो केवल घुलना बाकी रह गया है।

फिर कहती है कि—हे दयालु कपूर ! किसी दूसरे के नेत्रों को ही शीतल बनाओ; निरन्तर जल-भरे रहने के कारण मेरी आँखें यों ही ठंडी हैं।

करो किसी की दृष्टि को, शीतल सदय कपूर,
इन आँखों में आप ही, नीर भरा भरपूर।

'किसी' से तात्पर्य 'किसी अन्य' से है।

राक्षसों को मारने के लिए लक्ष्मण तप कर रहे हैं, यह सुनकर ऊर्मिला कहती है—

मन को यों मत जीतो।
बैठी है यह यहाँ मानिनी, सुध लो इसकी भी तो!
इतना तप न तपो तुम प्यारे,
जले आग-सी जिसके मारे।
देखो, ग्रीष्म भीष्म तनु धारे,
जन को भी मन चीतो।
मन को यों मत जीतो!

हे प्रिय! इस प्रकार मन को मत जीतो। अयोध्या में जो मानिनी बैठी है, उसकी भी तो सुध लो। तुम जो तपस्या कर रहे हो उसके कारण ही यह भयंकर ग्रीष्म ऋतु आग के समान जल रही है! तुम्हारे तपने के कारण ही वहाँ की आग लू के रूप में यहाँ आती है! ऊर्मिला का भी मनचाहा होने दो।

प्यासे हैं प्रियतम, सब प्राणी,
उन पर दया करो हे दानी,
इन प्यासी आँखों में पानी,
मानस कभी न रीतो,
मन को यों मत जीतो!

हे प्रियतम! ग्रीष्म के कारण सब प्राणी प्यासे हैं। हे दानी! उन पर दया करो, तप से और अधिक न तपाओ। इन प्यासी आँखों में पानी रहने दो। आँसुओं का उद्‌गम हृदय ही होता है। जैसे मानस से नदियाँ निकलती हैं, उसी तरह हृदय से आँसू निकलते हैं। इस हृदय को कभी खाली न होने दो, आँसू बराबर दिया करो।

घर कर धरा धूप ने धाँधी,
धूल उड़ाती है यह आँधी,
प्रलय, आज किस पर कटि बाँधी?

जड़ न बनो, दिन बीतो ।
मन को यों मत जीतो !

इस पृथ्वी को पकड़ कर धूप ने दबोच डाला है। यह आँधी भी धूल उड़ा रही है। न जाने प्रलय आज किसका नाश करना चाहता है ? हे मेरे दिन ! अचल न बनो, किसी तरह बीतो तो सही ! कहने का तात्पर्य है कि वियोग में दिन काटे भी नहीं कटता। ग्रीष्म ऋतु में भी दिन बड़े होते हैं, बड़ी मुश्किल से कटते हैं। 'धाँधी' 'दबोचा' के अर्थ में बुन्देलखण्डी प्रयोग है।

इसके बाद ऊर्मिला कहती है कि हे नाथ ! मेरी चिंता छोड़िये आप तो आत्म-चिन्तन में निमग्न रहिये। आप तो वन में हैं, मैं तो फिर भी राजमहलों में बैठी हूँ।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! तू तो मेरे आँसुओं को देखकर ही दुखी होती थी, अब तो देख, मेरे रोम-रोम से पसीना टपक उठा है—

नयन नीर पर ही सखी, तू करती थी खेद ,
टपक उठा है देख अब, रोम रोम से स्वेद ।

ऊर्मिला की सखी उस पर पंखा झलना चाहती है जिस पर ऊर्मिला कहती है—

ठहर अरी, इस हृदय में लगी विरह की आग ;
तालवृन्त से और भी धधक उठेगी जाग !

अरी ! तू यह क्या अनर्थ करने चली है। इस हृदय में तो पहले से ही विरह की आग लगी हुई है, ताड़ का पंखा झलने से तो यह और भी धधक उठेगी ! साकेतकार के इस दोहे के साथ संस्कृत-कवि के निम्नलिखित आर्या छन्द को मिलाकर पढ़िये—

विरमत विरमत सख्यो, नलिनीदलतालवृन्त पवनेन
हृदयगतोऽयं वह्निर्झटिति कदाचिज्ज्वलयत्येव ।

अर्थात् ठहरो, ठहरो, हे सखियो ! कमलिनी के पत्तों से बने इस पंखे की हवा से हृदयस्थित यह वियोगाग्नि कदाचित् और भी तेजी से जल उठेगी !

ऊर्मिला कहती है—रहें दिन भारी, मुझे तो प्रिय के गौरव ने लघुता प्रदान की है। किन्तु हे सखी ! इस कटुता में भी मधुर स्मृति की जो मिठास है, उस पर मैं बलिहारी हूँ !

प्रियतम के गौरव ने
लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी।
सखि, इस कटुता में भी
मधुरस्मृति की मिठास, मैं बलिहारी।

कटुता में भी मधुरस्मृति की मिठास का उल्लेख विरोधाभास का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसका समाधान जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

दुख भीतर जो प्रेम-मधु राखा।
जग नहिं मरण सहै जो चाखा॥

प्रेम में दुख तो है किन्तु उस दुख में भी प्रेम की मधुरता पाई जाती है। इस माधुर्य को जो चख लेता है, वह संसार में मृत्यु तक की परवाह नहीं करता। कटुता और मिठास में जो बात है, वही 'गौरव' और 'लघुता' के संबंध में भी समझिये।

तप को संबोधित करके ऊर्मिला कहती है—

तप, तुझसे परिपक्वता पाकर भले प्रकार,
बनें हमारे फल सकल, प्रिय के ही उपहार।

'तप' यहाँ श्लिष्ट पद है जो ग्रीष्म ऋतु और तपस्या दोनों के अर्थ में प्रयुक्त है। हे ग्रीष्म ! हमारे राज्य के सब फल तुझसे भली प्रकार पककर प्रिय के ही उपहार बनें, अथवा हे तप ! हम दोनों जो तपस्या कर रहे हैं, उसका सब फल प्रिय को ही समर्पित हो।

फिर सारंग को सम्बोधित करके कहा गया है—

पड़ी है लम्बी-सी अवधि पथ में, व्यग्र मन है,
गला रूखा मेरा, निकट तुझसे आज घन है।
मुझे भी दे दे तू स्वर तनिक सारंग, अपना,
करूँ तो मैं भी हा! स्वरित प्रिय का नाम जपना।

सारंग एक ऐसा शब्द है जो कोकिल, मयूर, चातक आदि सैकड़ों अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहाँ चातक के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। ऊर्मिला कहती है कि मेरे मार्ग में तो लम्बी-सी अवधि पड़ी है, मेरा मन भी अत्यन्त व्यग्र है, गला भी मेरा सूखा है, पर हे सारंग! तेरे लिए वर्षा ऋतु समीप ही है। जरा मुझे भी तू अपना स्वर दे दे जिससे मैं भी जोर जोर से प्रिय का नाम जपना शुरू कर दूँ। चातक से 'पिउ-पिउ' सुन कर वह भी वैसे ही मीठे स्वर में अपने प्रिय का कीर्तन करना चाहती है।

इसके बाद चातकी को संबोधित करके ऊर्मिला कहती है—

कहती मैं, चातकि फिर बोल,
ये खारी आँसू की बूँदें दे सकतीं यदि मोल।
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल?
फिर भी फिर भी इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल।
श्रुति-पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल!
जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयं हिल-डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल-खगोल।
न कर वेदना-सुख से वंचित, बढ़ा हृदय-हिन्दोल,
जो तेरे उर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल!

हे चातकी! मैं तुझसे फिर बोलने को कहती परन्तु क्या मेरे खारे आँसू उस बोलने का मूल्य चुका सकते हैं? मेरा मन तो है पर

मुझे संकोच होता है। तेरी बोली का मूल्य बहुत अधिक है, फिर भी तू अपनी बोली से रस का संचार करती रह। 'पी कहाँ' की र[illegible] सुनकर प्रिय की बातों के स्मरण से मुझमें बड़ी सजीवता आ गई है। पूर्वस्मृतियों की कल्पना यहाँ नारी-रूप में की गई है। वे श्रुति-पुट लेकर (उत्कर्ण होकर) बड़ी उत्सुकता से खड़ी हैं। उनके कपोल जो पीले पड़ गये थे, अब लाल हो गये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मेरी स्मृतियाँ जो क्षीणप्राय हो गई थीं, अब उनमें जान-सी आ गई है। सैकड़ों भावनाएँ अब मेरे मन में उठ खड़ी हुई हैं, पर फिर भी बाह्य-जगत् में तो मेरे लिए सन्नाटा ही शेष रह गया है। हे चातकी! तू मुझे वेदना-सुख से वंचित न कर। जो तेरे स्वर में है, वही मेरे हृदय में है अर्थात् प्रिय के प्रति अनुराग का भाव हम दोनों में भरा है।

अभिव्यक्ति के वैचित्र्य की दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ छायावादी शैली का स्मरण दिलाती हैं—

श्रुति-पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल!

जैसे कोई स्त्री प्रियतम का स्मरण दिलाने वाली आवाज को कान खोल कर बड़ी उत्सुकता से सुनती है और उस स्मरण के कारण जैसे उस विरहिणी के पाण्डु कपोल थोड़ी देर के लिए अरुण हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ पूर्वस्मृतियाँ कान खोले खड़ी हैं और उनके पाण्डु कपोल अरुण हो रहे हैं! भावनाओं का यह छायावादी मानवीकरण द्रष्टव्य है।

सुख की अवस्था में चारों ओर मनुष्य आनन्द का ही संग्रह करता है। संयोग की अवस्था में चातकी के करुण-क्रन्दन को भी ऊर्मिला आनन्द का गीत समझा करती थी, पर आज जब वह स्वयं वियोगिनी है तो चातकी की अवस्था के साथ वह तादात्म्य स्थापित कर सकती है।

चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान,
हा! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान।

ऊर्मिला के विरहोद्गार का आश्रय ले कवि ने यहाँ तक ग्रीष्म-ऋतु का वर्णन किया है। आगे के दोहे से वर्षा-ऋतु का वर्णन प्रारम्भ होता है।

घूम उठे हैं शून्य में उमड़-घुमड़ घन घोर,
ये किसके उच्छ्वास-से छाये हैं सब ओर?

आकाश में बादल उमड़-घुमड़ कर घूम उठे। किसके उच्छ्वास-से ये सब ओर छा गये हैं? ध्वनि यह है कि वियोगिनियों की गरम-गरम साँस ही भाप बन कर बादलों के रूप में आकाश में छाई है।

ऊर्मिला कहती है कि मेरी ही पृथ्वी का पानी ले लेकर आज यह आकाश दानी बन गया है। और यह बादल भी क्या है? यह भी मेरी ही पृथ्वी का धुआँ है जो ऊँचा उठ कर अभिमान कर रहा है। और हाथी की तरह झूम झूम कर गरज रहा है। मतवाले हाथी से जैसे मद चूता है, वैसे ही इस मेघ से भी जल की बूँदें गिरती हैं।

मेरी ही पृथ्वी का पानी,
ले लेकर यह अंतरिक्ष सखि, आज बना है दानी।
मेरी ही धरती का धूम,
बना आज आली, घन घूम।
गरज रहा गज-सा झुम झूम,
ढाल रहा मद मानी।
मेरी ही पृथ्वी का पानी।

सूर्य-चन्द्र अब बादलों से ढक गये हैं, अब वे विश्राम करें। सोये हुए बीज जग कर अंकुर रूप में उगें। हे सखी! अपने मृदु मन्द्र-स्वर* में कोई नई कहानी सुनाओ।

* मध्यम से उतरे हुए स्वर को संगीत में मन्द्र-स्वर कहते हैं।

अब विश्राम करें रवि-चन्द्र ,
उठें नये अंकुर निस्तन्द्र ,
वीर, सुनाओ निज मृदु मन्द्र ,
कोई नई कहानी ।
मेरी ही पृथ्वी का पानी ।

हे बादलों की घटा ! तू बरस, मैं भी आँसुओं की झड़ी से तेरा साथ दूँ। तेरे बरसने से ही पृथ्वी हरी-भरी होगी; रोने से शायद मैं भी कभी हरी-भरी हो सकूँ, मेरे भी दिन कभी फिरें ।

बरस घटा, बरसूँ मैं संग ,
सरसें अवनी के सब अंग ;
मिले मुझे भी कभी उमंग ,
सबके साथ सयानी ।
मेरी ही पृथ्वी का पानी ।

ऊर्मिला कहती है— हे मेघ ! तुम अपना दर्शन दो, स्पर्श कराओ और बरसो । तुम्हीं इस जीर्ण-शीर्ण जगती के नव यौवन हो; इसलिए हे जलद ! तुम बरसो और उसे सरस बनाओ। हे आषाढ़ ! तुम उमड़ कर घुमड़ उठो, और हे पावन सावन ! तुम बरसो । हे भाद्र के भद्र (हाथी), आश्विन के चित्रित हस्ति, और हे स्वाति के घन ! तुम बरसो । सृष्टि के नेत्रों के लिए अंजन की भाँति रंजनकारी और ताप-नाशक हे मेघ ! तुम बरसो । व्यस्त एवं प्रचण्ड जगज्जननी (कालिका) के अस्तव्यस्त एवं ऊपर उठे हुए अग्रस्तन स्वरूप हे बादल ! तुम बरसो । श्यामवर्ण-मेघों की समता स्तनाग्र से की गई है क्योंकि स्तन का अग्र-भाग ही श्यामता लिये रहता है । इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि गर्भवती होने पर ही स्त्री के स्तनाग्र में श्यामता आती है, इसलिए 'जगज्जननी' शब्द भी यहाँ साभिप्राय है। इसी प्रसंग में फिर आगे कहा गया है—हे गत सुकाल के प्रत्यावर्तन

और हे शिखिनर्त्तन ! बरसो। श्याम मेघ गत सुकाल के लौट आने का संदेश भी साथ ही लाते हैं, इसलिए उनको 'गत सुकाल का प्रत्यावर्तन' कहा गया है; मयूर उनको देख, आह्लादित हो, नृत्य करने लगता है, इसलिए उनको 'शिखि-नर्त्तन' के नाम से अभिहित किया गया है। पंतजी ने भी बादल को 'मुग्ध शिखि के नृत्य मनोहर' कह कर यही भाव व्यक्त किया है।

मेघ को संबोधित करती हुई ऊर्मिला आगे कह रही है—हे उद्‌बोधन ! तुम जड़-चेतन में बिजली भर दो। पृथ्वी में जो बीज बोया जाता है, वह मेघ से ही अंकुरित होता है; जड़ पृथ्वी को चिन्मय बनाने वाला मेघ ही तो है। पृथ्वी पर जब अंकुर फूटते हैं तो वे मानो पृथ्वी के पुलक को ही प्रकट करते हैं।* और इस पुलकांकुर का कारण भी बादल ही तो है।

अन्त में विरहिणी कहती है कि मेघ ! तुम ऐसा मन्त्र पढ़ो, ऐसे छींटे दो कि जिससे सोये हुए सब जग उठें। त्रिभुवन के मानस रूपी घट को तुम रस से भर दो। हे जलद ! कन-कन छन-छन तुम बरसते रहो। आज जन-जन के प्रेमी जन भीगते ही घर पहुँचे, हे बादल ! तुम बरसो।

दरसो, परसो, घन, बरसो।
सरसो जीर्ण-शीर्ण जगती के तुम नव यौवन, बरसो।
घुमड़ उठो आषाढ़ उमड़ कर पावन सावन, बरसो।
भाद्र-भद्र, आश्विन के चित्रित हस्ति, स्वातिघन, बरसो।
सृष्टि दृष्टि के अंजन रंजन, ताप विभंजन, बरसो।
व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, अयि अग्रस्तन, बरसो।
गत सुकाल के प्रत्यावर्तन, हे शिखिनर्तन, बरसो।
जड़ चेतन में बिजली भर दो ओ उद्‌बोधन, बरसो।

---

* पुलक प्रकट करती है धरणी हरित तृणों की नोकों से—पञ्चवटी

चिन्मय बनें हमारे मृण्मय, पुलकांकुर बन, बरसो।
मन्त्र पढ़ो, छींटे दो, जागे सोये जीवन, बरसो।
घट पूरो त्रिभुवन मानस रस, कन कन छन छन, बरसो।
प्रान भीगते ही घर पहुँचें, जन जन के जन, बरसो।

इस गीत में चौमासे के चारों महीनों—आषाढ़, श्रावण, भाद्र और आश्विन का उल्लेख कर दिया है जो वर्षा-वर्णन के प्रसंग में सर्वथा उचित है। जहाँ आषाढ़ और सावन को बरसने के लिए कहा गया है वहाँ लक्षणा से आषाढ़ श्रावण के बादलों से तात्पर्य है। भाद्र को भद्र कहने में जहाँ अनुप्रास का सम्यक् निर्वाह है, वहाँ कवि के शब्द-कोष का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। 'बरसो' की आवृत्ति से ऐसा लगता है जैसे वर्षा की झड़ी लग रही हो। 'कन कन छन छन बरसो' से जान पड़ता है जैसे टप टप ऊपर से बूँदें गिर रही हों। ऊपर के गीत में ऊँचे उठे हुए बादलों को 'जगज्जननी के अग्रस्तन' कहा गया है। महाकवि केशवदास ने भी वर्षा और कालिका का रूपक बाँधते हुए बादलों को इसी रूप में देखा है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति को लीजिये—

भौहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है।

अर्थात् इन्द्र धनुष ही कालिका की सुन्दर भौहें हैं, घने और बड़े बादल (पयोधर) ही जिसके उन्नत स्तन हैं और बिज्ज-छटा ही जिसके जड़ाऊ जेवरों की चमक है। किन्तु गुप्तजी के रूपक में 'अग्रस्तन' के प्रयोग द्वारा सादृश्य का अच्छा निर्वाह हो गया है। इस गीत में नकार के अनेकशः प्रयोग तथा आन्तरिक तुक-साम्य के कारण जो नाद-सौंदर्य की छटा दिखलाई पड़ती है, उसकी ओर हमारा ध्यान गये विना नहीं रहता। आंतरिक तुक-साम्य के उदाहरण लीजिये—

दरसो परसो बरसो
जीर्ण शीर्ण

यौवन   पावन   सावन
भाद्र   भद्र
सृष्टि   इष्टि
अंजन   रंजन   विभंजन   स्वातिधन   अग्रस्तन
व्यग्र   उदग्र
प्रत्यावर्तन   शिखिनर्तन   उद्बोधन   जीवन
कन कन छन छन   जन जन के जन
चिन्मय   मृण्मय

तुक का जितना सफल प्रयोग श्री गुप्तजी द्वारा हुआ है, खड़ी बोली के शायद ही किसी कवि द्वारा तुक का उतना समर्थ प्रयोग हुआ हो। तुक तो कवि के इशारों पर नृत्य करती हुई जान पड़ती है। माधुर्य गुण का उत्कृष्ट उदाहरण है यह गीत। इस गीत की अन्तिम पंक्ति 'आज भीगते ही घर पहुँचें, जन जन के जन, बरसो' को पढ़ कर राजस्थानी के निम्नलिखित दोहे की ओर बरबस हमारा ध्यान चला जाता है—

आज धुराऊ गाजियौ, काली कांठल मेह।
भीगी पाग पधारस्यौ, तो नाणूंली नेह॥

प्रोषितपतिका नायिका की उक्ति है कि आज उत्तर की तरफ का बादल गरजने लगा है; श्याम घटा वर्षा की सूचना दे रही है। हे प्रियतम! यदि आप भीगी हुई पाग (पगड़ी) से पधारेंगे तभी मैं समझूँगी कि आपका मुझसे सच्चा प्रेम है।

बादलों की घटा नीचे से उठकर ऊपर आती है और गहरी फैलकर सूर्य-चन्द्र के प्रकाश को ढक लेती है। घटना भी कारणों के नीचे दबी रहती है, घटा की तरह यह भी एक बारगी घटित हो जाती है। राम-लक्ष्मण के वन-गमन की घटना किस आकस्मिक रूप से घटी! किसे पता था कि यह दुर्घटना घटित होगी? पर किस तरह इससे सब जगह अन्धकार छा गया है, कुछ सूझता ही नहीं।

घटना हो, चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य,
आती है ऊपर सखी, छाकर चंद्रादित्य।

वर्षा ऋतु में अकस्मात् छा जाती हुई बादलों की घटा को देख कर विरहिणी को राम-लक्ष्मण के वनवास की आकस्मिकता का स्मरण हो आता है। और वह घटा और घटना दोनों में साम्य स्थापित करने लगती है। यहाँ पर एक ही शब्द द्वारा उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म कहा गया है। इसलिए दीपक अलंकार है।

सामान्यतः देखा जाता है कि कवि-परिपाटी के अनुसार विरहिणी प्रकृति के आनन्द-स्वरूपों को हटाना चाहती है। सूरदास के 'मधुवन, तुम कत रहत हरे,' में यही भावना पाई जाती है किन्तु ऊर्मिला के हृदय में इसके विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं और वह कहती है—

तरसूँ मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी बारी।

जैसी दुखिया वह है, वैसी दुःखिनी वह और किसी को नहीं देखना चाहती। प्रेम के प्रभाव से ऊर्मिला के हृदय में प्रकृति के प्रति भी सदय भाव उत्पन्न हुआ है। वह चाहती है कि यह प्यारी प्रकृति 'सरसे-हरसे-हँसे'। सबको सुख मिलेगा तो उसके दुःख के दिन भी चले जायँगे।

सूर्य की गर्मी से तपी हुई भूमि पर जब पहले पहल वर्षा की बूँदे गिरती हैं तो जमीन से भाप निकलने लगती है जैसा कि महाकवि कालिदास ने रघुवंश में कहा है—

आसारसिक्तक्षितिवाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकौशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः॥

ऊर्मिला जब यह देखती है कि जोर से पानी गिरने पर सूक्ष्म जल-कणिकाएँ भाप समान उठती हैं तो उसे लगता है कि मेरे विरह-ताप के कारण ही ये गिरते-गिरते भाप के रूप में बदल जाती हैं।

बुँदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप,
उठती हैं वे भाप-सी गिर कर अपने आप।

ऊर्मिला के विरह-वर्णन में इस प्रकार की ऊहात्मक उक्तियाँ भी स्थान-स्थान पर मिल जाती हैं।

वर्षा ऋतु में मोर को नृत्य करते हुए देखकर ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है—

न जा उधर हे सखी, वह शिखी सुखी हो, नचे,
न संकुचित हो कहीं, मुदित लास्य-लीला रचे।
बनूँ न पर-विघ्न मैं, बस मुझे अबाधा यही,
विराग-अनुराग में अहह! इष्ट एकान्त ही।

हे सखी! उधर न जाना, उस मयूर को सुखी होकर नृत्य करने दे। तेरे उधर जाने से कहीं उसके नृत्य में बाधा न पड़े। अब तो एक मात्र यही मेरा इष्ट रहता है कि दूसरों के सुख में किसी प्रकार बाधा न पहुँचे।

वीरबहूटी का एक नाम इन्द्रवधू भी है। इन्द्रवधू शब्द के आधार पर कवि ऊर्मिला के मुख से कहलवाता है—

इन्द्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय?
नन्हीं दूबा का हृदय निकल पड़ा यह हाय!

इन्द्रवधू अपना स्वर्ग छोड़कर भला इस पृथ्वी पर (जो कंटकाकीर्ण है) क्यों आने लगी? यह इन्द्रवधू नहीं, नन्हीं दूबा का हृदय ही निकल पड़ा है। तथ्य की दृष्टि से देखा जाय तो इस उक्ति पर आपत्ति उठाई जा सकती है क्योंकि वर्षा ऋतु में जब इन्द्रवधू दिखलाई पड़ती है, उस समय दूब तो वापिस खिलती है; उसके हृदय निकल पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु ऊर्मिला तो अपनी मनोदशा के अनुरूप ही सब वस्तुओं को देखती है। उनके मन में प्रविष्ट होकर कोई कवि की आँखों से देखे तो उक्त पद्य में प्रयुक्त अपह्नुति अलंकार का रहस्य समझ में आ सकता है। यह अलंकार

यहाँ पर भाव-व्यंजना में सहायक हुआ है। उक्त दोहे में 'विहाय' खड़ी बोली का प्रयोग नहीं है। इसके बाद मेहँदी को लक्ष्य कर ऊर्मिला कह रही है—

बता मुझे नखरंजनी, तू किस भाँति भरी,
होकर भी भीतर अरुण बाहर हरी हरी ?

अरी मेहँदी ! मुझे बता तो सही, भीतर से लाल लाल होकर भी तू बाहर से हरी-हरी क्यों कर है ? विरहिणी सोचती होगी कि जिसके अन्तस्तल में वेदना की ज्वाला धधक रही है, वह व्यक्ति भी ऊपर से क्या अपने आपको प्रफुल्लित की तरह प्रकट कर सकता है ?

वर्षा ऋतु में लता को पेड़ के समीप बढ़ते हुए देख कर ऊर्मिला कहती है—

अवसर न खो निठल्ली, बढ़ जा, बढ़ जा, विटपि-निकट वल्ली,
अब छोड़ना न लल्ली, कदम्ब - अवलम्ब, तू मल्ली।

हे लता ! तू बढ़ती चली जा और प्रिय वृक्ष के संयोग-सुख को प्राप्त कर। और हे मल्लिका ! (चमेली) तू भी कदम्ब-वृक्ष के अवलम्ब को न छोड़ देना। 'लल्ली' का घरेलू प्रयोग यहाँ देखने योग्य है ! यह केवल तुक मिलाने के लिए ही नहीं, अवसर के उपयुक्त भी है। 'कदम्ब-अवलम्ब' का आन्तरिक तुक भी ध्यान देने योग्य है। त्रिविध पवन, घन-रव और नीप के पुष्प को लेकर कवि ऊर्मिला के मुख से कहलवाता है—

त्रिविध पवन ही था, आ रहा जो उन्हीं-सा,
यह घन-रव ही था, छा रहा जो उन्हीं-सा;
प्रिय-सदृश हँसा जो, नीप ही था, कहाँ वे ?
प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं-सा !

शीतल, मन्द, सुगंध वायु का स्पर्श प्रिय-स्पर्श के समान ही सुखद लगता है किन्तु है यह त्रिविध पवन ही, प्रिय नहीं। प्रिय तो अयोध्या में हैं ही कहाँ ? अभी जो गंभीर गर्जना हुई, यह बादल की ही

गर्जना थी, प्रिय (लक्ष्मण) का गंभीर स्वर नहीं था। कदंब के विकसित पुष्प को देखकर ऊर्मिला कहती है कि यह लक्ष्मण का हास्य नहीं, कदम्ब के पुष्प का ही विकास था। प्रिय की सच्ची ख्याति लोक में फैल रही है, उनकी फैलती हुई कीर्ति प्रिय के समान ही मुझे अच्छी लगती है।

यदि उक्त पद्य में अलंकार-निर्देश करना हो तो भ्रान्तापह्नुति का ही नाम लेना होगा किन्तु यहाँ पर यह समझ लेना होगा कि साम्य दिखलाना ही कवि का अभिप्राय है, सचमुच धोखा दिखाना नहीं! भ्रम की व्यंजना भी साम्य पर बल देने के लिये ही है! उक्त पद्य में प्रयुक्त 'ही' से ध्वनित होता है कि 'प्रिय नहीं थे'! तीसरी पंक्ति में तुक नहीं मिलता।

आगे के पद्य में बादलों को लेकर निम्नलिखित अन्योक्ति की गई है—

सफल है, उन्हीं घनों का घोष,
वंश-वंश को देते हैं जो वृद्धि, विभव, सन्तोष।
नभ में आप विचरते हैं जो,
हरा धरा को करते हैं जो,
जल में मोती भरते हैं जो,
अक्षय उनका कोष।
सफल है, उन्हीं घनों का घोष।

उन्हीं बादलों की गर्जना सफल है जिनके कारण बाँसों को वृद्धि, विभव और संतोष मिलता है। ग्रीष्म की दावाग्नि में बाँस जल जाते हैं। वर्षा में वे फिर बढ़ कर श्रीसपन्न होते हैं। ऊपर आसमान में विचरण करने वाले बादल जल बरसा कर पृथ्वी को हरी भरी करते हैं और स्वाँति की बूँदों से सीप में मोती उत्पन्न करते हैं।

उक्त पंक्तियों से जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है, उसे निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है—

गम्भीर और ठोस मनुष्यों की गर्जना ही सफल है। तुच्छ तत्त्वहीन की गर्जन किस काम का ? जो ओछे नहीं हैं, वे अपने ही कुल का नहीं वरन् अनेक कुलों का उपकार करते हैं। जो अपनी आत्मा को बहुत उच्च रखते हैं और उच्चाशय होकर भी साधारण प्राणियों को प्रफुल्लित करते हैं जहाँ, लोग सोचते हैं कि यहाँ देना तो पानी में फेंकना है, वहाँ भी जो निःस्वार्थ भाव से दान देते हैं, ऐसे महामना और दानी पुरुषों की गर्जना ही सफल है।

ऊपर के पद्य में व्याकरण की दृष्टि से 'हरी' होना चाहिये किन्तु यदि 'हरा करना' को एक संयुक्त क्रिया मानें तो यह प्रयोग ठीक हो सकता है। 'हरा' और 'धरा' के आन्तरिक अनुप्रास के लिए शायद ऐसा कर दिया गया है।

वर्षा ऋतु के दिनों में ऊर्मिला ने लक्ष्मण से कहा था—आओ, झूले पर झूलें। इस पर लक्ष्मण ने उत्तर दिया था—

'नंगी पीठ बैठ कर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से,
रोक सकता हूँ ऊरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से,
किन्तु क्या करूँगा यहाँ ?' उत्तर में मैंने हँस
और भी बढ़ाये पैंग दोनों ओर ऊले-से,
'हैं-हैं' कह लिपट गये थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले-से !

कहो तो बिना जीन कसे भी घोड़े पर बैठ कर मैं उसे आकाश में उड़ा सकता हूँ, किन्तु तुम्हारे झूले का मुझे डर लगता है। यदि कभी लगाम भूल से टूट भी जाय तो भी घोड़े को तो मैं जंघाओं से दबा कर ही रोक सकता हूँ किन्तु इस झूले से मैं भी कैसे पेश आऊँ ! ऊर्मिला कहती है कि इस उत्तर को सुनकर मैं कुछ हँसी और दोनों ओर झोंके के साथ और भी वेग से पैंग बढ़ा दिये।

इसके बाद लक्ष्मण ने जो कुछ किया उसका उल्लेख उक्त कवित्त की अन्तिम दो पंक्तियों में हुआ है, जिसके मर्म को रसिक पाठक स्वयं समझ लेंगे ! वियोग के समय वर्षा ऋतु में ऐसी स्मृतियाँ ऊर्मिला के हृदय में हूक उठा जाती हैं। अयोध्या में ऊर्मिला की आशा फलवती न हुई ! वह चाहती थी कि मैं अपने प्रियतम को देख देख प्रफुल्लित होती और वह प्रफुल्लता भी उन्हींको समर्पित कर देती। उसे स्वयं फल की कोई कामना नहीं थी।

सखि, आशांकुर मेरे इस मिट्टी में पनप नहीं पाये,
फल-कामना नहीं थी, चढ़ा सकी फूल भी न मनभाये !

आसमान में बिजली कड़क रही है, बादल तड़क रहे हैं। ऊर्मिला कहती है कि ये बादल नहीं, किसी के हृदय थे जो धड़क रहे हैं। और ये जो अटक-अटक कर, भटक-भटक कर, तेज हो रहे हैं, वास्तव में किसी के हृदय के भाव हैं। मन्द-मन्द हवा से लताओं के लाल-लाल पत्ते जो हिलते हैं वे मानो उनके अरुण अधर हैं, जो कुछ कहना चाहते हैं।

कुलिश, किसी पर कड़क रहे हैं,
आली, तोयद तड़क रहे हैं।
कुछ कहने के लिए लता के
अरुण अधर वे फड़क रहे हैं।
मैं कहती हूँ, रहें किसीके
हृदय वही, जो धड़क रहे हैं।
अटक अटक कर भटक-भटक कर,
भाव वही, जो भड़क रहे हैं !

जहाँ तक मैं समझता हूँ 'रहें किसी के हृदय वही' के स्थान में 'रहे किसी के हृदय वही' होना चाहिए था। यहाँ पर अपह्नुति अलङ्कार है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये बादल नहीं किसीके

हृदय थे जो धड़क रहे हैं। 'कुछ कहने के लिए लता के अरुण अधर वे फड़क रहे हैं' में फलोत्प्रेक्षा है।

आगे के कवित्त में ऊर्मिला संयोग के दिनों की एक वर्षा-कालीन स्मृति का उल्लेख करती है।

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात ,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं, घटा छाई थी ;
गमक रहा था केतकी का गन्ध चारों ओर ,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से ,
चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी ,
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय ,
माई! मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी!*

उक्त पद्य के रस सम्बन्धी अवयवों का विश्लेषण करते हुए पं० रामदहिन मिश्र लिखते हैं—"इसमें ऊर्मिला आलम्बन विभाव है। उद्दीपन है बूँदों का पड़ना, घटा का छाना, फूल का गमकना, झिल्लियों का झनकारना आदि। छाती में मुहँ छिपाना आदि अनुभाव हैं। लज्जा, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि सञ्चारी भाव हैं। इन भावों से परिपुष्ट रति स्थायी भाव विप्रलम्भ श्रृंगार रस में परिणत होकर ध्वनित होता है।"

यहाँ पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भावध्वनि नहीं है।

इस कविता में रसिकगत सामग्री का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर उसका अध्याहार कर लिया जाता है। जैसे (१) आलम्बन इसमें लक्ष्मण हैं (२) उद्दीपन है अँधेरे में चुपचाप खड़ा होकर ऊर्मिला का विलास देखना। इसमें बूँदों का पड़ना आदि को भी उद्दीपन में सम्मिलित किया जा सकता है। (३) अनुभाव हैं हर्षजनित शारीरिक

* 'उसी छाती' से तात्पर्य है 'प्रिय (लक्ष्मण) की छाती'

चेष्टा आदि (४) सञ्चारी हैं—हर्ष, वेग, गर्व आदि (५) रति स्थायी है।

इसमें जैसे ऊर्मिला को लेकर लक्ष्मण को आनन्द है वैसे ही लक्ष्मण को लेकर रसिकों को। यहाँ अनुभाव आदि उक्त नहीं, पर कवि-अभिप्रेत समझ कर यहाँ उक्त अनुभाव और सञ्चारी का अध्याहार कर लिया गया है।"*

जुगनूँ को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है कि यहाँ अयोध्या में तो भवन-भवन में दीपक हैं, वन में अन्धकार छाया रहता है, इसलिए तू वहाँ जाकर चमक।

तम में तू भी कम नहीं, जी, जुगनूँ बड़भाग,
भवन-भवन में दीप हैं, जा, वन-वन में जाग।

हे सखि! कभी कभी रसिकता की क्रीड़ा भी बड़ी कठोर होती है। बादल का कठोर आलिंगन असह्य होने के कारण बिजली भी तड़प-तड़प उठती है!

हा! वह सुहृदयता भी क्रीड़ा में है कठोरता जड़िता,
तड़प-तड़प उठती है स्वजनि, घनालिंगिता तड़िता!

'घनालिंगिता' का 'घना' शब्द 'बादल' और 'घना' दोनों का एक साथ अर्थ देता है।

सारी सृष्टि सघन अन्धकार की बाढ़ में निमग्न है, मानो चक्कर में पड़ी दृष्टि चकरा रही है।

गाढ़ तिमिर की बाढ़ में डूब रही सब सृष्टि,
मानो चक्कर में पड़ी चकराती है दृष्टि।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि! तुझे याद है मालिनें जब डाली लाई थीं तो सीता ने जामुन पसन्द किये थे और मैंने आम। देवर शत्रुघ्न पास ही खड़े थे—हँस कर कहने लगे, अपना-अपना स्वाद ही जो है। मैंने पूछा था—हे रसिक, तुम्हारी रुचि जामुन पर है या आम पर? उन्होंने उत्तर में कहा था—मैं तो जामुन और आम

---

* काव्य दर्पण पृष्ठ २३४

दोनों का भोग लगाने वाला हूँ। हे सखि! विधि के प्रमाद से आज विनोद की स्मृति भी दुःखद हो गई है! 'दोनों का प्रसादभागी हूँ मैं' इस पंक्ति में 'प्रसाद' को श्लिष्ट पद मान कर यह भी अर्थ किया जा सकता है कि मैं तो अपने आपको दोनों का कृपापात्र सेवक समझता हूँ।

लाई सखि, मालिनें थीं डाली उस वार जब,
जम्बूफल जीजी ने लिये थे, तुझे याद है?
मैंने थे रसाल लिये, देवर खड़े थे वहीं,
हँस कर बोल उठे—'निज निज स्वाद है!'
मैंने कहा—रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर?'
बोले—'देवि, दोनों ओर मेरा रस-वाद है,
दोनों का प्रसाद-भागी हूँ मैं' हाय! आली आज
विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है!

उक्त कवित्त में स्मृति संचारी है।

आगे प्रकृति को सम्बोधित करके कहा गया है—

निचोड़ पृथ्वी पर वृष्टि-पानी,
सुखा विचित्राम्बर सृष्टि-रानी!
तथापि क्या मानस रिक्त तेरा?
बना अभी अंचल सिक्त मेरा।

वस्त्र को सुखाने के लिए उसका पानी निचोड़ दिया जाता है। वर्षा का पानी पृथ्वी पर निचोड़ दिया गया है, जिससे आकाश रूपी रंग-बिरंगा वस्त्र सूख गया। ऊर्मिला कहती है कि हे प्रकृति! क्या तेरा मानस (मानसरोवर झील की ओर भी संकेत है) खाली हो गया, उसमें पानी नहीं रहा? दिन-रात अश्रु-वर्षा के कारण मेरा अंचल तो गीला रहता है।

चौमासे में कभी धूप है तो कभी छाया। किन्तु यदि श्वास बना रहे तो कोई चिन्ता नहीं। पर यदि हम श्वास को न रोक सके तो प्रियतम के दर्शन का संयोग भी जाता रहेगा क्योंकि प्राण रहते ही तो प्रिय के दर्शन हो सकते हैं।

सखि, छिन धूप और छिन छाया,
यह सब चौमासे की माया।
गया श्वास फिर भी यदि आया,
तो सजीव है कृश भी काया।
हमने उसको रोक न पाया,
तो निज-दर्शन-योग गमाया।
ले लो, दैव जहाँ जो लाया।
यह सब चौमासे की माया।

'तो निज-दर्शन-योग गमाया' में योग की क्रिया की शाब्दी व्यंजना भी है। उस हालत में 'निज-दर्शन-योग' का अर्थ होगा आत्म-साक्षात्कार के लिए किया गया योग। तात्पर्य यह है कि श्वास की क्रिया के बिना ब्रह्म का दर्शन कैसे होगा। अथवा प्राणायाम के बिना आत्म-साक्षात्कार क्योंकर हो सकेगा? शाब्दी-व्यंजना और श्लेष के अन्तर को भी स्पष्ट कर देना यहाँ आवश्यक है। शाब्दी-व्यंजना का अर्थ उस अर्थ के साथ अन्वित नहीं, व्यंजित मात्र होता है। दूसरे अर्थ को विना लिये भी इसमें वह अर्थ पूरा हो जाता है, पर श्लेष दोनों अर्थ लिये विना एक भी अर्थ नहीं बैठता।

'हमने उसको रोक न पाया' में 'हमने' का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। इसलिए यहाँ च्युतसंस्कृति दोष है। 'सकने' के अर्थ में 'पाना' क्रिया अपनी सकर्मता खो देती है। शुद्ध प्रयोग होगा 'यदि हम उसको रोक नहीं पाये।' संभवतः तुक-साम्य और छन्दानुरोध की दृष्टि से कवि ने इस तरह का प्रयोग कर दिया है। 'देह उसे जो रोक न पाया' इस प्रकार का प्रयोग हो सकता था पर 'हमने उसको रोक न पाया' में जो बल है, वह संभवतः संशोधित प्रयोग में नहीं है।

किनारे की झाड़ियों ने रास्ते को रोक दिया है। इसलिए ऊर्मिला कहती है कि मेरा उपवन आज वन की तरह होगया है। यद्यपि प्रियतम इस समय वन में हैं, फिर भी कभी तो वे लौटकर अयोध्या

आयेंगे ही। हे सखी! अपने उपवन की यह दशा देखकर वे मुझसे क्या कहेंगे? प्रियतम वन में भी इस उद्यान का ध्यान करते होंगे। इसलिए हे सखी! मालिनों द्वारा इस उद्यान को परिष्कृत होने दो।

पथ तक जकड़े हैं झाड़ियाँ डाल घेरा,
उपवन वन-सा हा! हो गया आज मेरा।
प्रियतम वनचारी गेह में भी रहेंगे,
कह सखि, मुझसे वे लौट के क्या कहेंगे?

करें परिष्कृत मालिनें, आली, यह उद्यान;
करते होंगे गहन में प्रियतम इसका ध्यान।

'गहन' यहाँ वन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रकृति की शोभा में ऊर्मिला को अपने प्रियतम की आभा दिखलाई पड़ती है। इसलिए वह चाहती है कि सृष्टि-सुन्दरी प्रकृति चिर-दिन हरी-भरी रहे, जिसके द्वारा उसे अपने प्रियतम की सुध मिलती रहे। प्रिय की स्मृति ही उसे जीवित रख सकेगी और इस प्रकार जीवन-दान का श्रेय भी प्रकृति को ही मिलेगा।

वह कहती है कि हे चन्द्रमा! तुम हँसते रहो और हे फूल! तुम प्रफुल्लित होकर शाखा-रूपी हिंडोले पर झूलते रहो। रोने के लिए तो मैं ही बहुत हूँ; अश्रु-वर्षा करने में मैं जल बरसाने वाले बादल से भी कम नहीं हूँ!

हे प्रकृति! तुझे हरी-भरी देखकर मुझे अपने प्रियतम का स्मरण हो आता है। जड़ हुए चेतन को तू सजीव करने वाली है; वर्षा में निर्जीव पृथ्वी फिर लहलहा उठती है। प्रिय की बात सुनकर ही मैं जीवित रह सकती हूँ, इसलिए हे सखि! मुझे उन्हींकी कथा सुना।

प्रकृति, तू प्रिय की स्मृति-मूर्ति है,
जड़ित चेतन की त्रुटि-पूर्ति है।
रख सजीव मुझे मन की व्यथा,
कह सखि, कह, तू उनकी कथा।

इसके बाद शरत्-ऋतु का वर्णन प्रारम्भ होता है। ऊर्मिला कहती है कि हे सखि! इन खंजनों को देखकर मैं अनुमान लगाती हूँ कि मेरे प्रिय ने इधर अपने नेत्र घुमाये हैं जिनका आभास इन खंजनों में मिल जाता है। जान पड़ता है कि यह धूप जिससे सरोवर स्वच्छ होगये हैं प्रिय के द्वारा अर्जित तप का ही मूर्तिमंत रूप है जो चारों ओर फैल गया है और जिसे देखकर मेरा मन सरस हो उठा है। प्रियतम की गति और उनके हास्य का आभास मुझे इन हंसों में मिल जाता है। प्रियतम इस ओर घूमे होंगे अथवा निश्चय ही मेरा ध्यान करके वे मुस्कराये होंगे, तभी तो ये हंस यहाँ दिखलाई पड़ने लगे हैं। कमल खिल उठे हैं और प्रियतम के लाल लाल होठों के समान ये दुपहरिया के फूल भी फूल उठे हैं। हे शरत्! तुम्हारा स्वागत है क्योंकि तुम्हारे आगमन पर मैंने खंजन पक्षियों में प्रिय के नेत्रों का, धूप में प्रिय द्वारा अर्जित तप का; हँसों में उनकी गति और हास्य का, बन्धूक पुष्पों से उनके अधरों का आभास पाया है। आसमान ने ओस की बूँदों के रूप में मोती न्यौछावर कर तुम्हारा स्वागत किया है; मैं अपने आँसुओं का अर्घ्य देकर तुम्हारी अभ्यर्थना करूँगी।

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये,
घूमे वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये!
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये!
स्वागत, स्वागत, शरद्, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये!

उक्त पंक्तियों को पढ़कर जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों का अनायास स्मरण हो आता है—

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भी, दसन ज्योति नग हीर॥

अर्थात् "सरोवर में चारों ओर जो कमल दिखाई पड़ रहे थे, वे उसके नेत्रों के प्रतिबिम्ब थे; जल जो इतना स्वच्छ दिखाई पड़ रहा था, वह उसके स्वच्छ निर्मल शरीर के प्रतिबिम्ब के कारण। उसके हास की शुभ्र-कान्ति की छाया वे हंस थे जो इधर-उधर दिखाई पड़ते थे और उस सरोवर में जो हीरे थे वे उसके दाँतों की उज्ज्वल-दीप्ति से उत्पन्न हो गये थे।"

इसके आगे ऊर्मिला कहती है कि दूब ने तुच्छ ओस के रूप में प्रेमाश्रु भेंट किये थे; सूर्य ने उन्हें बहुमूल्य बना दिया—ओस के कण रत्न-कणों की भाँति चमकने लगे। फिर सूर्य ने उन्हें स्वीकार कर लिया। मैंने भी एक बार प्रिय को कमल के फूलों की माला पहनाई थी तो उन्होंने उत्तर दिया था—यह पद-भार पाकर मैं आभारी हुआ!

अपने प्रेम-हिमाश्रु ही दिये दूब ने भेंट,
उन्हें बना कर रत्न-कण रवि ने लिया समेट।
प्रिय को था मैंने दिया पद्म-हार उपहार,
बोले—'आभारी हुआ पाकर यह पद-भार!'

चौथी पंक्ति में लक्ष्मण की ओर से किये गये काव्योचित विनोद का उल्लेख है। कमलों के भार के लिए 'पद-भार' का प्रयोग किया गया है क्योंकि यहाँ चरणों को कमलों का उपमान ठहराया गया है। ऊर्मिला को लक्ष्मण द्वारा किये गये पुराने परिहास का स्मरण हो रहा है। 'आभारी' शब्द के साभिप्राय-प्रयोग के कारण यहाँ परिकर अलङ्कार भी है।*

---

* इस अर्थ में कष्ट कल्पना है। 'पद-भार' में 'पद' को प्रतिष्ठा अथवा हाई पोस्ट का संकेत मान कर सीधा सादा अर्थ किया जा सकता है जो स्वयं कवि को भी अभीष्ट है।

जल, थल और आसमान—सर्वत्र शरद की पवित्र क्रीड़ा-सी हो रही है। पर हे सखि! हमारे पीछे तो ताप-पीड़ा की भाँति यह १४ वर्षों की अवधि पड़ी हुई है।

अम्बु, अवनि, अम्बर में स्वच्छ शरद की पुनीत क्रीड़ा-सी।
पर सखि, अपने पीछे पड़ी अवधि पित्त पीड़ा-सी॥

ऊर्मिला को लगता है जैसे आकाश की सफेद चादर पुरानी हो गई है जिससे जीर्ण-शीर्ण होने के कारण उसका नीला रङ्ग दिखलाई पड़ता है। तात्पर्य यह है कि फटे हुए बादलों के टुकड़े आसमान में रह गये हैं।

आसमान फटी हुई केंचुली धारण किये हुए सर्प-सा जान पड़ता है। वियोग में आकाश भी उसको काट-सा रहा है।

हुआ विदीर्ण जहाँ-तहाँ श्वेत-आवरण जीर्ण,
व्योम शीर्ण कंचुक धरे विषधर-सा विस्तीर्ण।

सुख अपने स्थान में ही होता है। छोटी तलैया की मछली वहीं सुखी रहती है, सागर में तड़पती ही है। इसलिए ऊर्मिला कहती है—

शफरी, अरी, बता तू तड़प रही क्यों निमग्न भी इस सर में?
जो रस निज गागर में, सो रस गो-रस नहीं स्वयं सागर में।

फिर भ्रमरी को सम्बोधित करके कहती है—

भ्रमरी इस मोहन मानस के सुन मादक हैं रस-भाव सभी,
मधु पीकर और मदान्ध न हो, उड़ ना, बस है अब क्षेम तभी।
पड़ जाय न पंकज बंधन में, निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते सविशेष किसी जन का सुख-भोग कभी।

हे भ्रमरी! इस मान-सरोवर में खिलने वाले कमलों का जितना रस तुमने पी लिया, वह बहुत है। कहीं ऐसा न हो कि प्रलोभन के कारण तू कमल के बन्धन में पड़ जाय। समय निरन्तर किसी का

सुख नहीं देख सकता। इस अन्योक्ति द्वारा व्यंजित होता है कि जगत प्रलोभन-पूर्ण है जिसमें मन आसानी से फँस जाता है। अन्तिम-पंक्ति में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। मान-सरोवर में कमलों का खिलना कवि-प्रसिद्धि ही समझिये क्योंकि वहाँ सर्दी के कारण कमल का उगना असम्भव है।

बगुले को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है—

इस उत्पल-से काय में हाय! उपल-से प्राण?
रहने दे बक, ध्यान यह, पावें ये दृग त्राण!

हे बक! तेरा शरीर तो सफेद कमल-सा कोमल है, पर तेरा हृदय पत्थर का है। किस तरह मछली की ताक में तू बैठा रहता है! ध्यान में तू आँख बन्द किये हुए है, रहने दे तेरा यह ध्यान; अपनी आँखों को खोल जिससे ये बेचारी मछलियाँ बचें। नेत्रों की उपमान मछलियाँ हैं, इसलिये 'दृग' से तात्पर्य यहाँ मछलियों से है। दृग का नेत्र अर्थ मान कर कहा जा सकता है कि हे बगुले! तू अपनी बन्द आँखों को खोल जिससे तेरी आँखों को छुटकारा मिले। किसी बन्द वस्तु को मुक्ति दिलाने से त्राण मिलता ही है। 'दृग' शब्द के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ लेने पर अर्थ की सङ्गति भली भाँति बैठ जाती है। उक्त दोहे से ऊर्मिला के हृदय की कोमलता भी व्यंजित हो रही है।*

वर्षा ऋतु में हंस मानसरोवर चले जाते हैं और शरद ऋतु में लौट आते हैं। हंस को सम्बोधित करके कहा जा रहा है—

---

* यह कवि का अभिप्रेत अर्थ नहीं है। स्वयं महाकवि के शब्दों में "पावें ये दृग त्राण" में ऊर्मिला की अपनी आँखों से आशय है अर्थात् यह दारुण अथवा भण्ड व्यापार देखने से मेरी आँखें परित्राण पावें। कोई चाहे तो भले ही इसमें रूप-गर्विता की सिद्धि करले कि ऊर्मिला अपने नेत्रों को मीन समझ कर उनका परित्राण चाहती है।" (लेखक के नाम भेजे हुए महाकवि के पत्र से उद्धृत)

हंस छोड़ आये कहाँ मुक्ताओं का देश ?
यहाँ वन्दिनी के लिए लाये क्या सन्देश ?

हे हंस ! तुम तो मानसरोवर में मोती चुगा करते थे, उस सुरम्य स्थान को छोड़कर यहाँ क्या करने आये ? यहाँ मुझ वन्दिनी के लिए तुम क्या सन्देश लाये हो ? उक्त दोहे में प्रयुक्त 'मुक्ताओं' और 'वन्दिनी' द्वारा दूसरा निम्नलिखित अर्थ भी ध्वनित हो रहा है—

हे विशुद्ध आत्मा ! तुम्हें तो जीवन मुक्तों के बीच आध्यात्मिक जगत् में रहना चाहिए था। यहाँ मैं तो वन्दिनी हूँ, आनन्द को छोड़ दुःख में तुम यहाँ क्या करने आये ? इस प्रकार अर्थ करने पर यहाँ समासोक्ति अलङ्कार मानना चाहिए !

हे हंस ! तुम्हें तो वस्तुओं की परख थी न ? तुम्हारा तो नीर-क्षीर-विवेक जगत् प्रसिद्ध है; पर सँभल सँभल के तुम भी धोखा खा गये। मेरे इन आँसुओं को तुम मोती समझ बैठे !

हंस, हहा ! तेरा भी बिगड़ गया क्या विवेक बन बन के !
मोती नहीं, अरे ये आँसू हैं ऊर्मिला जन के !

यह पद्य भ्रान्तापह्नुति का अच्छा उदाहरण है।

लम्बी पंक्ति में उड़ते हुए जलपक्षियों के झुण्ड को देखकर ऊर्मिला कहती है—

चली क्रौंचमाला कहाँ लेकर बन्दनवार ?
किस सुकृती का द्वार वह, जहाँ मंगलाचार !

मांगलिक अवसरों पर घरों के द्वार पर या मण्डप के चारों ओर वन्दनवार बाँधी जाती है। उड़ती हुई क्रौंचमाला वन्दनवार के समान जान पड़ती है, जिसे देखकर ऊर्मिला कहती है कि वह किस पुण्यात्मा का द्वार होगा जहाँ मङ्गलाचार हो रहे हैं; यहाँ तो प्रिय-वियोग में विषाद ही विषाद रह गया है !

जहाँ इकट्ठी हुई बर्फ पिघल कर गिरती है, वह गंगोत्री का गोमुख है। गाय का मुहँ नीचे की ओर रहता है और गंगा भी

ऊपर से नीचे को गिरती है। ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! गंगा गोमुखी रहे और करुणा कुररीमुखी रहे अर्थात् करुणा की पुकार पृथ्वी से आकाश को जाती रहे। कुररी के लिए प्रसिद्ध है कि वह बहुत रुदन करती है। गंगा हिमालय से मैदान की ओर आती है, क्रौंचों की पंक्तियाँ मैदान से हिमालय की ओर उड़ा करती हैं। क्रौंच का स्वर बड़ा करुण होता है, अतः करुणा को कुररीमुखी कहा है। गंगा गोमुख नामक स्थान से निकलती है; अतः वह गोमुखी है।

सखि, गोमुखी गंगा रहे, कुररीमुखी करुणा यहाँ ;
गंगा जहाँ से आ रही है, जा रही करुणा वहाँ !

गंगा ऊपर से नीचे आकर भूमण्डल को सुखी बनाये और करुणा की पुकार भगवान सदा सुनते रहें।

ऊर्मिला चकवा-चकवी को सम्बोधित करके कहती है—

कोक, शोक मत कर हे तात ,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो सुन तू मेरी बात।
धीरज धर अवसर आने दे, सहले यह उत्पात ,
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख-सुहाग की रात !

हे चक्रवाक ! तू शोक मत कर, और हे चकवी ! तू भी धीरज धर, इस सारे उत्पात को सहले। देख, मैं भी तो कष्ट में हूँ। पर यह निश्चित है कि रात के पीछे सवेरा तो होगा ही।* उस सुप्रभात में मेरा अपने प्रियतम से मिलन होगा और मेरा वह सुप्रभात तेरे सुख-सुहाग की रात होगी क्योंकि प्रभात होने पर ही चकवा-चकवी मिल पाते हैं।

इस पद्य में धृति सञ्चारी की व्यञ्जना हुई है।

लक्ष्मण के चले जाने पर अब कुञ्जों में सन्नाटा है। पहले का कलरव मानो अब सो गया ह और भीतर जो चाँदनी फैली है, वह

---

* बरसें बीत गईं, पर अब भी है साकेतपुरी में रात ,
तदपि रात चाहे जितनी हो, उसके पीछे एक प्रभात।
(साकेत ११ सर्ग)

मानो सोने वाले पर पड़ी हुई चादर है। अभिव्यञ्जना के वैचित्र्य द्वारा इसी बात को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया गया है—

हा! मेरे कुंजों का कूजन रोकर, निराश होकर सोया,
वह चन्द्रोदय उसको उड़ा रहा है धवल वसन-सा धोया।

श्लेषादि द्वारा पुरानी शैली का चमत्कार तथा आधुनिक शैली की लाक्षणिक वक्रता दोनों का प्रयोग कवि ने किया है। उक्त पद्य में छायावादी शैली स्पष्टतः देखी जा सकती है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखी! विषाद के अंकुरों का सेवन करके ही यह वियोग पुष्ट होता जा रहा है। वियोग रूपी (पशु) मेरी वेदनाओं को खा-खा कर सबल हो रहा है। और हड्डियों की खाद से जिस प्रकार अंकुर बढ़ते हैं, उसी प्रकार वनस्पतियों को पुष्ट करने वाले इस चन्द्रमा की किरणें मेरी वियोग-वेदना को बढ़ा रही हैं।

सखि, मेरी धरती के करुणांकुर ही वियोग सेता है,
यह ओषधीश उनको स्वकरों से अस्थिसार देता है!

चन्द्ररश्मियों के वर्ण-साहश्य को लेकर अस्थिसार की कल्पना की गई है जो यहाँ बहुत सटीक बैठी है। ओषधीश अपने करों से जहाँ खाद पहुँचाता हो उन अंकुरों के बढ़ने का भला क्या कहना! 'ओषधि' जड़ी बूटी अथवा वनस्पति तथा 'ओषधि' दवा के अर्थ में प्रयुक्त दो भिन्न भिन्न शब्द हैं।

पूर्व दिशा ने चन्द्ररूपी बच्चे को पैदा किया है। चन्द्रमा में जो काला धब्बा दिखलाई पड़ता है, वह डिठौना है जो पूर्व दिशा रूपी माता ने अपने बच्चे पर नजर से बचाने के लिए लगा दिया है। उसे कलङ्क कहना तो मानो एक कठोर टोना है।

जन प्राचीजननी ने शशि शिशु को जो दिया डिठौना है,
उसे कलंक कहना, यह भी मानो कठोर टौना है!

लोकप्रचलित विश्वास के अनुसार यह समझा जाता है कि बच्चों के सुन्दर नाम रखने से उन पर विपत्ति आने की सम्भावना

रहती है, बुरे नाम रखने से वे विपत्ति से बचे रहते हैं। यदि एक कुटुम्ब में बहुत से बच्चे लगातार मरते रहें तो जो नया बच्चा पैदा होता है, उसे सूर्य अथवा चन्द्र-ग्रहण में अंत्यज को सुपुर्द कर देते हैं, फिर उसे वापिस माँग लेते हैं। ऐसे बच्चे का नाम माँगीलाल रक्खा जाता है। यह संभवतः इसलिये किया जाता है कि बुरी आत्माएँ बच्चे को पहचान न सकें। मैंने देखा है 'सुखी' जैसा सुन्दर नाम न रख कर कुछ लोग अपने बच्चे का नाम 'दुखी' रख लेते हैं। इस प्रकार अप्रिय नाम रखना बच्चे को बुरी आत्माओं से सुरक्षित रखने के लिए एक प्रकार का टोना ही है। ऊपर की पंक्तियों में गुप्तजी ने कल्पना की है कि पूर्व दिशा रूपी स्त्री ने चन्द्रमा रूपी बच्चे को पैदा किया है और नजर न लग जाय इसलिए डिठौना तक लगा दिया है। इस काले टीके को लोग कलंक कहते हैं; किन्तु यह कलंक नहीं, यह तो डिठौना है। डिठौने को कलंक कहना यह भी नामकरण के सम्बन्ध में किया हुआ मानो एक टोना है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सजनी! मेरी दृष्टि में तो चन्द्रमा एक मन्जुल दर्पण है। उसमें जो कालिमा दिखाई देती है, वह तो कैकेयी की दुर्बुद्धि द्वारा पैदा हुए अयोध्या के कलंक की प्रतिच्छाया है!

सजनी, मेरा मत यही, मंजुल मुकुर मयंक,
हमें दिखाता है वहाँ अपना राज्य-कलंक!

पहली पंक्ति में वृत्त्यनुप्रास की छटा दर्शनीय है। संस्कृत 'मृगांक' का प्राकृत रूप 'मयंक' है, जो विशेषतः काव्य में व्यवहृत होता है।

रात्रि की सौन्दर्य-श्री वियोगिनी ऊर्मिला को पागल बना रही है। अँधेरे नीले आकाश में तारे उसे ऐसे जान पड़ते हैं, मानो नीलम के प्याले में झाग से भरी हुई शराब हो!

किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीथ में मतवाला?
नीलम के प्याले में बुद्बुद् देकर उफन रही वह हाला!

ऊपर की पंक्तियों में रात्रि की मादक शोभा के लिए हाला, आकाश के लिए नीलम के प्याले तथा चमकते हुए तारों के लिए बुद्बुद् का प्रयोग हुआ है। आकाश के प्रतीक के रूप में प्रसादजी ने भी 'इन्द्रनील मणि महा चषक' का प्रयोग किया है—

इन्द्रनील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका ;
आज पवन मृदु साँस ले रहा
जैसे बीत गया खटका।
(कामायनी)

शरत् में नदी स्वच्छ हो जाती है। ऊर्मिला शरत् कालीन नदी की धारा को लेकर अपनी सखी से कह रही है—

सखि, निरख नदी की धारा।
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भरके,
उछल उछल कर, छल छल करके,
थल थल तरके, कल कल धरके,
बिखराता है पारा !
सखि, निरख नदी की धारा।

तारों वाले आसमान का प्रतिविम्ब नदी में पड़ता है तो ऐसा जान पड़ता है जैसे चाँद तारे का कपड़ा झलमलाता हो। चाँदतारा एक प्रकार की बारीक मलमल होती है, जिस पर चाँद और तारों के आकार के बूटे होते हैं। यह नदी जगह जगह से होती हुई तथा नाद करती हुई पारे के समान चंचलता धारण करती है। ऊपर की पंक्तियाँ अनुकृति का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

लोल लहरियाँ डोल रही हैं,
भ्रू-विलास-रस घोल रही हैं;
इंगित ही में बोल रही हैं,
मुखरित कूल-किनारा।
सखि, निरख नदी की धारा।

नदी की हिलोरें धनुषाकार भौंहों के हिलने-डुलने का आनन्द दे रही हैं; ऐसा जान पड़ता है मानो वे इशारे से ही बात कर रही हैं। किनारे पर के पक्षी कलरव कर रहे हैं। 'कूल-किनारा' यहाँ लाक्षणिक-प्रयोग है जिसका अर्थ है 'किनारे पर के पक्षी।' 'भ्रू-विलास-रस' में भी उपमेय का कथन न होकर उपमान का ही कथन हुआ है।

पाया, अब पाया—वह सागर,
चली जा रही आप उजागर।
कब तक आवेंगे निज नागर
अवधि-दूतिका-द्वारा?
सखि, निरख नदी की धारा।

नदी वेग से समुद्र की ओर दौड़ी जा रही है और ऐसा लगता है जैसे वह अपने प्रेमी समुद्र से अब मिली, अब मिली। ऊर्मिला कहती है कि मेरे प्रियतम अवधि रूपी दूती द्वारा कब तक आवेंगे? ऊर्मिला के औत्सुक्य की व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है। तात्पर्य यह है कि पहले १४ वर्षों की अवधि आवेगी तब प्रिय आवेंगे।

मेरी छाती दलक रही है,
मानस-शफरी ललक रही है,
लोचन-सीमा छलक रही है,
आगे नहीं सहारा।
सखि, निरख नदी की धारा।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! नदी की धारा को देखकर मेरी छाती काँपने लगी है। मेरी मन रूपी मछली जो धारा से अलग पड़ गई है, अब धारा में कूद पड़ना चाहती है। मेरे आँखों के कोने पर आँसू बहते लगे हैं और आगे कोई सहारा नहीं है।

विरहिणी कहती है कि हे सखि ! चाँदनी को देख तुझे सन्तोष होता है तो फिर अच्छा है, मैं उसी में घुल मिल जाऊँ ! किन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचती है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि चाँदनी तो शीतल है और प्रिय तप रहे हैं। इस तरह तो प्रिय से मैं और भी दूर जा पड़ूँगी। वे तो ताप ही के द्वारा मिल सकते हैं; शीतलता को तो वे अपने पास फटकने तक न देंगे।

सखि, सत्य क्या मैं घुली जा रही ?
मिलूँ चाँदनी में, बुरा क्या यही ?
नहीं चाहते किन्तु वे चाँदनी,
तपोमग्न हैं आज मेरे धनी।

शीतलता के प्रतीक के रूप में 'चाँदनी' का प्रयोग तीसरी पंक्ति में हुआ है।

सखि कहती है कि रात को आसमान में जो तारे-से दिखलाई पड़ते हैं, वे तारे नहीं हैं, तेरी गरम साँस आकाश को लगती है, इसी से फफोले पड़ गये हैं। इस पर सखी के वाक्य को दुहराकर ऊर्मिला भोलेपन से कहती है—तो क्या मैं अपनी श्वास-क्रिया भी छोड़ दूँ ?

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय !
तो क्या मैं निःश्वास भी न लूँ आज निरुपाय ?

व्यंजना-प्रधान होने के कारण उक्त दोहा ध्वनि का अच्छा उदाहरण है। विरह की ऐसी अत्युक्तियाँ उर्दू और फारसी की शायरी में अधिक मिलती हैं। उदाहरणार्थ—

(१) सितारे जो समझते हैं, गलतफहमी है यह उनकी।
फलक पर आह पहुँची है मेरी चिनगारियाँ होकर॥

(२) "तारे तो ये नहीं मेरी आहों से रात की
सूराख पड़ गये हैं तमाम आसमान में।" (मीर तकी)

चाँदतारे की साड़ी पहनने वाली रात्रि ने संपूर्ण मद्य पीकर चन्द्र रूपी खाली वर्तन छोड़ दिया है। चन्द्रमा ही उसका पिया हुआ खाली प्याला है।

तारक-चिह्नदुकूलिनी पी-पी कर मधु मात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।

'श्यामा' श्लिष्ट शब्द है जिसका प्रयोग 'रात्रि' और 'स्त्री' दोनों के अर्थ में हुआ है। श्लेष-लाघव से 'रात्रि' और 'कामिनी' का रूपक ऊपर के दोहे में निष्पन्न हुआ है। ध्वनि यह है कि वियोगिनी के निकट चन्द्र अमृत से खाली है।

इसके बाद निम्नलिखित पद्य द्वारा हेमन्त ऋतु का वर्णन प्रारम्भ होता है—

आलि, काल है काल अन्त में,
उष्ण रहे चाहे वह शीत,
आया यह हेमन्त दया कर,
देख हमें सन्तप्त सभीत।

हे सखि ! चाहे गर्मी का समय हो, चाहे सर्दी का समय हो; समय तो आखिर परिवर्तन शील है। हमें संतप्त और भयभीत देखकर बड़ी दया कर हेमन्त का समय उपस्थित हुआ है। 'काल है काल, इसमें अर्थान्तर-संक्रामित ध्वनि है। मुख्यार्थ का बोध होने पर जहाँ वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षण-द्वारा अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय—बदलजाय, वहाँ अर्थान्तर-संक्रामित ध्वनिहोती है। 'काल है काल' में दूसरा 'काल' शब्द परिवर्तनशीलता का द्योतक है।

ऊर्मिला कहती है कि आये हुए का स्वागत करना तो उचित ही है, किन्तु क्या अपने आँसुओं से मैं हेमन्त का स्वागत करूँ? अगर प्रिय होते तो घी-गुड़ देकर बड़े आदर के साथ मैं उसकी अभ्यर्थना करती—

आगत का स्वागत समुचित है पर क्या आँसू लेकर?
प्रिय होते तो लेती उसको मैं घी-गुड़ दे देकर।

'लेती' का प्रयोग यहाँ 'स्वागत करता' के अर्थ में हुआ है। 'यशोधरा' में भी इस तरह का प्रयोग अनेक स्थानों पर गुप्तजी ने किया है। जैसे—

(१) ले न सकेगी तुम्हें वही बढ़ तुम सब कुछ हो जिसके,
यह लज्जा, यह क्षोभ भाग्य में लिखा गया कब, किसके?

(२) मिला न हा! इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग।
पहुँचाती मैं उन्हें सजाकर,
गये स्वयं वे मुझे लजाकर।
लूँगी कैसे?—वाद्य बजाकर,
लेंगे जब उनको सब लोग,
मिला न हा! इतना भी योग।

'रामचरितमानस' में भी "भरत आइ आगे भै लीन्हें" जैसे अनेक प्रयोग मिलते हैं। काव्य-ग्रन्थों में ही क्यों, सामान्य बोलचाल में भी हम कहा करते हैं—"शहर के सब रईस स्टेशन पर उन्हें लेने गये हैं।"

ऊर्मिला कहती है कि आज पाक और पकवानों के स्वाद का अवसर जाता रहा! प्रिय ही नहीं तो कैसे पाक और पकवान? किन्तु हे ऋतुवर्य, तू प्रतिवर्ष यहाँ आता रह। प्रियतम जब लौट आयेंगे तो दस गुने उत्साह से मैं तेरा स्वागत करूँगी।

"पाक और पकवान रहें, पर गया स्वाद का अवसर बीत,
आया सखि, हेमन्त दया कर देख हमें सन्तप्त-सभीत।
हे ऋतुवर्य, क्षमा कर मुझको देख दैन्य यह मेरा,
करता रह प्रतिवर्ष यहाँ तू फिर फिर अपना फेरा।
व्याज-सहित ऋण भर दूँगी मैं, आने दे उनको हे मीत,
आया सखि, हेमन्त दया कर, देख हमें सन्तप्त-सभीत।"

मुझे वे दिन याद हैं जब शीत के कष्ट के कारण 'सी-सी' करती हुई मैं प्रियतम के पार्श्व में जा छिपती थी। उस समय प्रियतम कहा करते थे कि यह हेमन्त मेरा बड़ा उपकारी है।

सी-सी करती हुई पार्श्व में पाकर जब-तब मुझको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको।

हेमन्त में कम्बल के बिना काम नहीं चलता; अँगीठी से तापते भी हैं। अँगीठी में कोयले जल रहे हैं। अंगारे आग के फूल की तरह खिले हुए हैं, ऐसा जान पड़ता है मानो उसके अन्दर अनेक मंगल तारे हों।

कम्बल ही सम्बल है अब तो, ले आसन ही आज पुनीत,
आया यह हेमन्त दया कर देख हमें सन्तप्त-सभीत।
कालागरु की सुरभि उड़ा कर मानो मंगल तारे,
हँसे हसन्ती में खिल खिल कर अनल-कुसुम अंगारे।

अंगारों का रँग लाल है और मंगल तारे का रँग भी लाल माना गया है। 'हसन्ती' का अँगीठी के अर्थ में बड़ा सार्थक प्रयोग यहाँ हुआ है।

ऊर्मिला कहती है कि अँगीठी में जिस प्रकार कोयले धधक रहे हैं, उसी प्रकार मेरा अतीत भी आज मेरे हृदय में धधक रहा है।

आज धुकधुकी में मेरी भी, ऐसा ही उद्दीप्त अतीत!
आया यह हेमन्त दया कर देख हमें सन्तप्त-सभीत!

ऊर्मिला की सखि कहती है कि तू आतप-सेवन (धूप-सेवन) कर ले, जिस पर ऊर्मिला उत्तर देती है कि हेमन्त ऋतु में यदि आतप-सेवन किया जाय तो इसमें तपस्या क्या है, तपस्या में तो कष्ट सहन करना पड़ता है, पर हेमन्त की धूप तो आराम पहुँचाने वाली है। इस ऋतु में तो तपस्या शीत जल के सेवन करने में है; पानी में घुस कर बैठने में ही सच्ची तपस्या है।

अब आतप-सेवन में कौन तपस्या, मुझे न यों छल तू,
तप पानी में पैठा, सखि, चाहे तो वहीं चल तू!

प्रिय वियोग में ऊर्मिला किसी भी प्रकार के सुख-साधन का प्रयोग नहीं करना चाहती। प्रिय जब राजसी सुखों को छोड़ कर तपस्वी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तब पति-प्राणा ऊर्मिला ही सुख का जीवन क्योंकर व्यतीत करने लगी। ऊपर की पंक्तियों में 'आतप' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है।

नाइन जब तेल लगाना चाहती है तो ऊर्मिला कहती है—

नाइन, रहने दे तू, तेल नहीं चाहिए मुझे तेरा,
तनु चाहे रूखा हो, मन तो सुस्नेह-पूर्ण है मेरा।

'सुस्नेह-पूर्ण' का श्लिष्ट प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य है।

सखी दर्पण में ऊर्मिला को उसकी दुर्बलता दिखला रही है जिस पर ऊर्मिला की उक्ति है—

मेरी दुर्बलता क्या
दिखा रही तू अरी, मुझे दर्पण में?
देख निरख मुख मेरा
यह तो धुँधला हुआ स्वयं ही क्षण में?

हे सखि! दर्पण में तू मुझे मेरी दुर्बलता क्या दिखा रही है! मेरी संतप्त साँसों से दर्पण स्वयं धुँधला हो रहा है! और फिर एक

अनोखी मैं ही क्या दुबली हो गई हूँ, सरोवर की कमलिनी का भी तो केवल नाल मात्र शेष रह गया है।*

एक अनोखी मैं ही क्या दुबली होगई सखि, घर में ?
देख, पद्मिनी भी तो आज हुई नालशेष निज सर में।

ऊर्मिला कहती है कि मैंने अपने देवर शत्रुघ्न से पूछा कि इस वर्ष कपास, ईख, धानादि की उपज कैसी हुई ? उन्होंने कहा—देवि, इस वर्ष भूमि पर इन्द्र भगवान की दुगुनी दया-सी हुई और गाँव के किसानों से जब मैंने पूछा तो सभी ने कहा—इस वर्ष अन्न, गुड़, गोरस सब की वृद्धि ही हुई है, किन्तु 'हाय ! इस वर्ष न जाने स्वाद कैसा है !' यह कहते हुए एक किसान की अबला रो उठी !

पूछी थी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से—
कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की ?
बोले—"इस बार देवि, देखने में भूमि पर
दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान की।
पूछा यही मैंने एक ग्राम में तो कर्षकों ने
अन्न, गुड़, गोरस की वृद्धि ही बखान की,
किन्तु 'स्वाद कैसा है, न जानें, इस वर्ष हाय !'
यह कह रोई एक अबला किसान की !

राजकुल के शोक से प्रजा भी संतप्त है, खाद्य पदार्थों में इसी से स्वाद नहीं आता है।

ऊर्मिला कहती है कि हम राज्य के लिये मरते हैं; किन्तु सच्चा राज्य तो हमारे कृषक ही करते हैं। जिनके खेतों में अन्न है, उनसे अधिक सम्पन्न और कौन है ? पत्नी सहित वे कार्य करते हैं, पृथ्वी को धन-धान्य से भरते हैं। वे गो-धन के धनी हैं और अमृतवत् दुग्ध उनको सदा सुलभ है। वे बड़े सहनशील हैं और कड़ी मेहनत

* हेमन्त में कमल का नाल मात्र बच रहता है।

करते हैं। किसानों की रक्षा के लिए राज्य बराबर सन्नद्ध रहा है, इसलिए उनको डर किस बात का ? अनेक प्रकार की शंकायें उठा कर अथवा बाल की खाल निकाल कर विद्वान् तर्कों में चाहे फँसे रहें किन्तु किसान तो इधर-उधर भटकने वाली बुद्धि को छोड़ कर मूल-धर्म का पालन करते हैं। वे ईश्वर को मानते हैं और धर्म के सामान्य रूप से उनका परिचय है—

करके मीन-मेख सब ओर ,
किया करें बुध वाद कठोर ,
शाखामयी बुद्धि तज कर वे मूल-धर्म धरते हैं।
हम राज्य लिये मरते हैं !

"शाखामयी" शब्द के प्रयोग को देख कर गीता के निम्नलिखित श्लोक का स्मरण हुए बिना नहीं रहता—

बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्
व्यवसायायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ॥

ऊर्मिला कहती है कि अगर हम भी किसान होते तो यह दुख हमें नहीं भोगना पड़ता राज्य के लिए ही तो कैकेयी ने सारा षड्यन्त्र रचा था !

होते कहीं वही हम लोग ,
कौन भोगता फिर ये भोग ?
उन्हीं अन्नदाताओं के सुख आज दुःख हरते हैं !
हम राज्य लिये मरते हैं !

धिक्कार है इस राज्य को जिसके कारण प्रभु को वनवास मिला, मुझे यह कारागार मिला और उन तात (दशरथ) को मृत्यु-दण्ड मिला !

प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार ,
मृत्यु-दण्ड उन तात को, राज्य, तुझे धिक्कार !

जब यह पृथ्वी अखंडित रूपसे चौदह चक्करखायगी तब प्रियतम प्रभु के संग इस ओर घूमेंगे। अब तो दिन पर दिन और रात पर रात गिनते रहो; यहाँ प्रत्येक क्षण प्राणों पर आघात करता है। '१४ वर्षों के बाद प्रियतम लौटेंगे' यह न कहलवा कर कवि ने ऊर्मिला के मुख से कहलवाया है—

चौदह चक्कर खायेगी जब यह भूमि अभंग,
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।

इस प्रकार के वर्णन से प्रभावकता बढ़ जाती है।

जाड़े में दिन छोटा और रात बड़ी होती है, इसको लेकर ऊर्मिला कहती है—

सिकुड़ा सिकुड़ा दिन था, सभीत-सा शीत के कसाले से,
सजनी, यह रजनी तो जम बैठी विषम पाले से!

शीत के डर से भयभीत-सा दिन सिकुड़ा-सिकुड़ा था किन्तु हे सजनी, यह रजनी तो विषम पाले से जम बैठी है, किसी तरह ढलती ही नहीं! उक्त पद्य में हेतूत्प्रेक्षा है। दिन मानो जाड़े के डर से सिकुड़ गया था और रात को जो पाला पड़ा उससे मानो रात पानी की तरह जम गई!

एक बार प्रिय कमरे का पर्दा हटा कर खुद चतुर होकर भी धोखा-खाये हुए-से मेरे पास आये और ऊनी वस्त्र मेरी गोद में डाल कर बोले—तुम्हीं जरा इसको ओढ़ देखो। उधर क्या हुआ, मैं झट अपनी ओढ़नी छोड़ कर उठी; उस समय हवा चाबुक की तरह बदन में लग रही थी—तो भी हम दम्पति के रोम-रोम हर्षित थे और दोनों भुज-पाश के मोद में आबद्ध थे।

आये सखि, द्वार-पटी हाथ से हटा के प्रिय
वंचक भी वंचित-से कम्पित विनोद में,
'ओढ़ देखो तनिक तुम्हीं तो परिधान यह'
बोले डाल रोमपट मेरी इस गोद में।

क्या था, उठी मैं झट आवरण छोड़ कर
परिणत हो रहा था पवन प्रतोद में,
हर्षित थे तो भी रोम रोम हम दम्पति के,
कर्षित थे दोनों बाहु-बन्धन के मोद में।

ऊपर के कवित्त में स्मृति संचारी का वर्णन हुआ है। ऊर्मिला कहती है कि हे सखि! तू शिशिर का बार बार उल्लेख करती है पर मुझे तो ऐसा लगता है कि मैं जो जल रही हूँ उसी का धुआँ यह कोहरे का जाल है, जो सामने दिखाई पड़ रहा है! हे सखि! इस कोहरे को तू देखा तो सही, ऐसा जान पड़ता है, जैसे अँधेरे पर बर्फ-सी जम गई है। आशय यह है कि शीत से अँधेरा भी सफेद पड़ गया है (जैसे पोला पड़ जाना वैसे ही, सफेद पड़ जाना) यह रोग किंवा पीड़ा का लक्षण है।

करती है तू शिशिर का, बार बार उल्लेख,
पर सखि, मैं जल-सी रही धुँआधार यह देख!
सचमुच यह नीहार तो अब तू तनिक निहार,
अन्धकार भी शीत से श्वेत हुआ इस बार!

कस्तूरी-मृग के शरीर से कस्तूरी की गंध निकला करती है। ऊर्मिला कहती है कि जहाँ पहले कभी कस्तूरी का गन्ध गमकता था, वहाँ आज मेरा मन रूपी मृग प्रिय के उठने-बैठने के स्थानों पर जाने से चौंक उठता है।

कभी गमकता था जहाँ कस्तूरी का गन्ध;
चौंक चमकता है वहाँ आज मनोमृग अन्ध!

हे शिशिर! तू गिरि-वन में न फिर, यहाँ तुझे सब कुछ मिल जायगा। नन्दन वन के समान मेरे इस बगीचे में जितना पतझड़ तुझे चाहिए मैं दूँगी; दुर्बलता तथा प्रिय-स्मरण के कारण मेरे शरीर में कम्पन तो हमेशा ही बना रहता है, जितना तुझे चाहिये, ले ले। और सखी

कहती है कि मेरे मुख पर पीलेपन का कोई अभाव नहीं है, इसलिए पीलापन भी तुझे पर्याप्त मात्रा में यहाँ मिल जायगा। हे भाई शिशिर! प्रिय के लिए बहाये गये मेरे आँसुओं को यदि तू जमा दे तो, फिर प्रिय के आने पर मैं ये आँसू उन्हें दिखाऊँ! मेरी हँसी तो चली ही गई है; आँसू जब जम जायँगे तो हँसना-रोना कुछ न रहेगा। हँसने, रोने के अभाव में भाव-जगत में किस तरह की अनुभूति होती है, यह देखने की मेरी बड़ी उत्कट इच्छा है।

शिशिर, न फिर गिरि-वन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में।
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले! मेरे इस तन में;
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में?
वीर, जमादे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती-सा मैं अकिंचना रक्खूँ उसको मन में।
हँसी गई, रो भी न सकूँ मैं,—अपने इस जीवन में,
तो उत्कण्ठा है देखूँ फिर क्या हो भाव-भुवन में।

हे सखी! मकड़ी को न हटा, वह सहानुभूति-वश इधर आई है। हम दोनों की समान दशा है; जहाँ वह अपने जाले में फँसी हुई है, वहाँ मैं भी दुःख के जाल में पड़ी हूँ।

सखि, न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहाँ समान-दशा।

ऊपर की पंक्तियों में 'सहानुभूति-वशा' और 'जालगता' का जो स्त्रीलिंग प्रयोग हुआ है, वह उपयुक्त नहीं जान पड़ता। इससे दुरूहता तो आती ही है, संस्कृत से ऐसा उधार लेना भी ठीक नहीं।

खिड़की से सूर्य-किरण आ रही है, जिसको संबोधित करके ऊर्मिला कहती है—

भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?
झाँक झरोखे से न, लौट जा, गूँजे तुझसे तार जहाँ।
मेरी वीणा गीली गीली ;
आज हो रही ढीली ढीली ;
लाल हरी तू पीली नीली ,
कोई राग न रंग यहाँ।
भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?

हे सूर्य-किरण ! यहाँ तू कहाँ भूल पड़ी ? झरोखे में से न झाँक, तू वहाँ जा जहाँ तेरे ही समान तार गूँजते हों अर्थात् जहाँ मधुर स्वर से वीणा बज रही हो; यहाँ तो वियोग के दिन बीत रहे हैं। नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा बह रही है; मेरी वीणा तो आज गीली हो रही है, यह ढीली-ढीली है। और हे सूर्य-किरण ! तू रँगीली है, लाल-हरे पीले-नीले अनेक रँग तुझमें हैं, किन्तु यहाँ रास रंग कहाँ ?

शीत काल है और सवेरा ;
उछल रहा है मानस मेरा ,
भरे न छींटों से तनु तेरा ,
रुदन जहाँ क्या गान वहाँ ?
भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?

मेरा हृदय-रूपी मानसरोवर उछल रहा है, उसमें से जो दुःख के छींटे उड़ेंगे उनसे तेरा शरीर भी भर जायगा। शीत-काल में जल के छींटे वैसे ही असह्य होते हैं; और फिर प्रातःकाल तो और भी असह्य होंगे। किस गान की आशा में हे सूर्य-किरण ! तू यहाँ आ गई ? जहाँ रुदन ही रुदन है, वहाँ गान के लिये अवकाश कहाँ ?

ऊर्मिला कहती है कि वीणा बजाते समय जैसे एक तार से दूसरे तार पर अँगुली जाती रहती है, वैसे ही मैं सुख की दशा से दुख में आ पड़ी हूँ। मींड़ में भी झट से एक स्वर से दूसरे स्वर पर आ जाना पड़ता है।

मेरी दशा हुई कुछ ऐसी
तारों पर अँगुली की जैसी,
मींड़, परन्तु कसक भी कैसी ?
कह सकती हूँ नहीं न हाँ !
भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?

मेरे जीवन रूपी वृक्ष की वर्णनातीत दशा हो रही है। न तो इसमें स्थिरता (अगति) ही है और न स्थान-परिवर्तन (गति) ही ! पेड़ को हवा हिलाती है, इससे गति तो है, पर यह जहाँ का तहाँ पड़ा है, इससे गति नहीं भी है ।

न तो अगति ही है न गति, आज किसी भी ओर,
इस जीवन के झाड़ में, रही एक झकझोर !

इसके बाद ऊर्मिला पीले पत्ते का स्वागत करती हुई कहती है—

पाऊँ मैं तुम्हें आज तुम मुझको पाओ,
ले लूँ अंचल पसार, पीत पत्र आओ ।
फूल और फल निमित्त,
बलि देकर स्वरस-वित्त,
लेकर निश्चिन्त चित्त,
उड़ न हाय ! जाओ,
ले लूँ अंचल पसार, पीत पत्र आओ ।
तुम हो नीरस शरीर
मुझमें है नयन-नीर;
इसका उपयोग वीर,
मुझको बतलाओ ।
ले लूँ अंचल पसार, पीत पत्र आओ ।

डाल से अलग हुआ पीला पत्ता निराधार हो जाता है, मैं भी

इसी तरह निराधार हो रही हूँ। इसलिए हे पीत पत्र, मैं तुम्हें पा जाऊँ और तुम मुझको पा जाओ अर्थात् दोनों निराधार एक दूसरे के सहारे हो जायँ तो कितना अच्छा रहे। इसलिए हे पीले पत्ते! आओ, तुम्हारा यहाँ स्वागत है।

तुमने अपना सारा रस वृक्ष को फूलने-फलने के लिए दिया है; खुद पीले पड़कर इतना त्याग तुमने किया है। तुमने अपना जीवन परोपकार में लगाया है। हे भाई पीले पत्ते! सहारा देने के लिए तुम यहाँ जरा रुक जाओ। तुम्हारा शरीर तो नीरस है, मेरे पास आँसू बहुत हैं। तुम यह बतलाओ, मेरे ये आँसू तुम्हारे किसी काम में आ सकते हैं क्या?

महुवे के पेड़ को संबोधित करके ऊर्मिला कहती है—

जो प्राप्ति हो फूल तथा फलों की,
मधूक, चिन्ता न करो दलों की।
हो लाभ पूरा पर हानि थोड़ी;
हुआ करे तो वह भी निगोड़ी।

हे मधूक, यदि फूल तथा फल मिलते हों तो पत्तों की हानि की परवाह मत करो। (फूल लगने के समय पत्तियाँ झड़ जाती हैं) अधिक लाभ के लिए थोड़ी हानि भी हो तो क्या? 'निगोड़ी' का यह घरेलू प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य है।

ऊर्मिला कहती है कि शिशिर और वसन्त दोनों ही सराहनीय हैं। शिशिर को भी बुरा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जो शिशर का अन्त है, वही वसन्त का प्रारम्भ है।

श्लाघनीय हैं एक-से दोनों ही द्युतिमन्त,
जो वसन्त का आदि है वही शिशिर का अन्त।

संसार तो मन के अनुरूप है; मन आनन्दपूर्ण हो तो संसार भी सुखद है, मन दुःखी हो तो संसार भी दुःखद है। धूप को लक्ष्य में रखकर ऊर्मिला कहती है कि यह ज्वलित जीवन से उठा हुआ

धुआँ है या धूप ? (वसन्त में कोहरा नहीं रहता, साफ धूप होती है) कवि लोग कुन्द को हँसता हुआ कहते हैं, पर मुझे तो वह दाँत दिखाता अपना-सा दीन ही दिखाई देता है।

ज्वलित जीवन धूम कि धूप है,
भुवन तो मन के अनुरूप है।
हसित कुन्द रहे कवि का कहा,
सखि, मुझे वह दाँत दिखा रहा !

धन की गर्मी का असर किस पर नहीं पड़ता ? धनदिशा (अर्थात् उत्तर दिशा) में स्वयं आतप-पति (सूर्य) भी तप उठे हैं !

हाय ! अर्थ की उष्णता, देगी किसे न ताप ?
धनद-दिशा में तप उठे, आतप-पति भी आप।

सूर्य जब गर्मी में उत्तरायण होते हैं, तो गर्मी ज्यादा पड़ने लगती है। उक्त दोहे में 'धनद' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है।

लता ने सौन्दर्य का प्रकाश किया है फूल के रूप में, पर विना माली के इसकी शोभा को कौन देखे ! विना इसके देखे उसका फूलना व्यर्थ ही है।

अपना सुमन लता ने निकाल कर रख दिया, विना बोले ;
आलि कहाँ वनमाली, झड़ने के पूर्व झाँक ही जो ले ?

निम्नलिखित गीत में वसन्त का सुन्दर वर्णन हुआ है—

काली काली कोयल बोली ;
होली-होली-होली !
हँस कर लाल-लाल होंठों पर हरियाली हिल डोली।
होली-होली-होली !
अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अँखियाँ खोली,
मल दी उषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली।
होली-होली-होली !

वसन्त में काली कोयल बोलने लगती है। इस ऋतु में नई नई कोंपल हवा से हिल कर होठों-सी जान पड़ती हैं। भ्रमर-गुंजार सुनकर अब कमलिनी भी खिल उठी है। आसमान में ऊषा ने दिन के मुख पर जो रोली मल दी है वही पूर्व की लालिमा है।

रागी फूलों ने पराग से भर ली अपनी झोली,
और ओस ने केसर उनके स्फुट-सम्पुट में घोली।
होली-होली-होली!

होली के अवसर पर जैसे लोग अबीर से झोली भरते हैं, वैसे ही रागी फूलों ने पुष्प-रज से अपनी झोली भरली है और ओस ने मानो पीला रंग-केशर उसके अन्दर घोल दिया है।

ऋतु ने रवि-शशि के पलड़ों पर तुल्य प्रकृति निज तोली,
सिहर उठी सहसा क्यों मेरी भुवन-भावना भोली?
होली-होली-होली!

वसन्त ने सूर्य-चन्द्र के पलड़ों पर अपनी तुल्य-प्रकृति को तौल लिया है, जिससे शीत और उष्णता बराबर-बराबर हो जाय। वसन्त में न अधिक जाड़ा पड़ता है, न अधिक गर्मी। पुरानी बातों को स्मरण करके ऊर्मिला के हृदय में सिरहन (कम्पन) उत्पन्न होती है; किन्तु वह कहती है कि कम्पन तो शिशिर में होनी चाहिए, वसन्त में यह सिहरन कैसी ?

गूँज उठी खिलती कलियों पर यह अलियों की टोली,
प्रिय की श्वास-सुरभि दक्षिण से आती है अनमोली!
होली-होली-होली!

खिलती हुई कलियों पर भ्रमर-समूह गुंजार करने लगा है और मलय-पवन बहने लगा है। मलय-पवन दक्षिण से आता है और मेरा प्रिय भी दक्षिण में है, इसीसे यह पवन सुगन्धित है। मेरे प्रिय के श्वास-सौरभ को लेकर ही यह मलय-पवन दक्षिण से आ रहा है।

ऊर्मिला कहती है कि हे मलयानिल, तू यहाँ से लौट जा, यहाँ अवधि का शाप है; विरहिणी यहाँ वियोग-ज्वाला में जल रही है। कहीं तू अपनी शीतलता खोकर लू के रूप में न बदल जाय।

जा, मलयानिल, लौट जा, यहाँ अवधि का शाप,
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप!

भौंरे चम्पा पर नहीं बैठते हैं। इसी बात को लेकर कहा गया है—

भ्रमर, इधर मत भटकना, ये खट्टे अंगूर,
लेना चम्पक गन्ध तुम, किन्तु दूर ही दूर।

ठीक है, हे भ्रमर! तुम यहाँ से दूर ही रहना।

कनीर के फूल को पृथ्वी माता का गुण अर्थात् गन्ध (तत्र गन्ध-वती—पृथिवी) नहीं मिला। गन्ध को उसने छोड़ दिया, शायद यह दिखलाने के लिए कि बिना गुण के भी रूप तो हो सकता है; रूप-शील सगुण भी हो, यह जरूरी नहीं।

सहज मातृ-गुण गन्ध था कर्णिकार का भाग;
विगुण रूप-दृष्टान्त के अर्थ न हो यह त्याग!

वसन्त मानो फूलोंके द्वारा लोगों को अनुरंजित करना चाहता है, पर ऊर्मिला इनसे सन्तुष्ट होने की नहीं। इसीलिए वह कहती है—

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
हो कर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी वह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-विंदु यह—यह हर-नेत्र निहारो!
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो!

यदि मानव-स्वभाव-वश कभी क्षणिक-भोग की लालसा उत्पन्न होती है तो वह दूसरे ही क्षण मनसिज को चुनौती देती है। कामदेव फूलों के बाण से प्रहार करता है। ऊर्मिला कहती है कि हे कामदेव तुम अपने मन में कुछ तो दया लाओ; मैं तो अबला वियोगिनी बाला हूँ, मुझे फूल मत मारो। हे मदन, तुम तो मधुर वसन्त के मित्र हो, फिर मुझ पर यह निर्दयता क्यों दिखाते हो? तुम्हारे इस कार्य-व्यापार से मुझे व्याकुलता होगी, तुम्हें विफलता होगी इसलिए यह व्यर्थ का श्रम क्यों करते हो? मैं कोई भोगिनी नहीं हूँ जो तुम यहाँ जाल फैला रहे हो। जो संयोग की दशा में हैं, उन्हींके लिए तुम्हें अपना जाल फैलाना चाहिए, मैं तो इस समय वियोगिनी ठहरी। और यदि तुम्हें अपने बल का घमण्ड हो तो मेरे इस सिंदूर विन्दु को देख लो—इसे शिव का तीसरा नेत्र ही समझना जैसे शिव के तीसरे नेत्र से तुम भस्म हो गये थे, उसी तरह यह भी तुम्हें भस्म कर देगा। और तुम्हारे सौन्दर्य का घमण्ड भी व्यर्थ है; क्योंकि मेरा पति तुमसे कहीं अधिक सुन्दर है। यदि तुम्हें रति के प्रेम का गर्व है तो लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर डाल दो! मेरी चरण-धूलि के बराबर भी उसकी प्रीति नहीं है।

ऊपर के पद में 'मधु' और 'रति' का श्लिष्ट-प्रयोग हुआ है। 'मधु' वसन्त और मधुर-रस के अर्थ में प्रयुक्त है, तथा 'रति' कामदेव की स्त्री और प्रीति के अर्थ में प्रयुक्त है।

ऊर्मिला कहती है कि हे फूल, तुम आनन्द से खिलते रहो, तुम पर मैं रुष्ट नहीं हूँ, इसके दोष देख कर इस कामदेव पर ही मुझे रोष होता है।

फूल खिलो आनन्द से तुम पर मेरा तोष;
इस मनसिज पर ही मुझे दोष देख कर रोष।

फिर अशोक को सम्बोधित करके विरहणी कह रही है—

आई हूँ सशोक मैं अशोक, आज तेरे तले ,
  आती है तुझे क्या हाय ! सुध उस बात की।
प्रिय ने कहा था—'प्रिये पहले ही फूला यह ,
  भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की।
देवी उन कान्ता सती शांता को सुलक्ष कर ,
  वक्ष भर मैंने भी हँसी यों अकस्मात की—
भूलते हों नाथ, फूल फूलते ये कैसे, यदि
  ननद न देतीं प्रीति पद-जलजात की !'

प्रसिद्ध है कि अशोक स्त्रियों के पद-प्रहार से ही फूलता है। ऊर्मिला कहती है कि हे अशोक, आज मैं सशोक होकर तेरे तले आई हूँ। भला तुझे उस बात का भी स्मरण है जब प्रिय ने कहा था—'प्रिये ! इसे तुम्हारे पदाघात का डर था, इसलिए यह पहले ही फूल गया है !' यह सुन कर मैंने भी लक्ष्मण की बहन शान्ता को लक्ष्य करके जी-भर हँसी की और कहा—नाथ, आप भूलते हैं, यह अशोक शान्ता के चरणों के प्रेम में ही फूला है। 'वक्ष भर' प्रचलित मुहावरा नहीं है।

ऊर्मिला कहती है कि मेरा मुख तो आज प्रिय के बिना सूखा हुआ है और मन रूखा है; किन्तु मैं चाहती हूँ कि प्रिय का यह मौलसिरी का समूह फूलों से भरा-पुरा रहे—

सूखा है यह मुख यहाँ, रूखा है मन आज ;
किन्तु सुमन-संकुल रहे प्रिय का वकुल-समाज !

फिर कमल को लक्ष्य करके कहती है—हे सरस-सुगन्धित सहस्त्र-दल, खिलता रह, मैं तुझे स-विलास देखना चाहती हूँ। जल जैसी पावन करने वाली वस्तु संसार में और कोई नहीं, और हे कमल, तू उसी का पुत्र है, इसीलिये तुझे बार बार धन्य है। सरोवर की विभूति का तू प्रकाश-रूप है। एक तू ही ऐसा है जिसमें फल-फूल साथ लगते हैं, नहीं तो—

कब फूलों के साथ फल, फूल फलों के साथ ?
तू ही ऐसा फूल है, फल है जिसके हाथ।*

तुझमें अनुपम मकरन्द भरा है, तू ही एकमात्र उपमान है, उपमेय तो अनेक हैं, रूप-रंग, गुण-गन्ध में तू ही सबसे बड़ा है, इसलिए तेरी ही गाथा सर्वत्र गाई जाती है। प्रिय के अंगों का आभास मुझे तुझी में मिल जाता है, इसलिए हे सुगन्धित सहस्र-दल, तू खिलता रह—

ओ उन अंगों के आभास!
खिल सहस्र-दल, सरस सुवास।

हे कमल! तू सौन्दर्य का हाथ है, क्योंकि तुझसे हाथों की उपमा दी जाती है, तू रति का उठा हुआ मुख है, (मुख के लिए भी कमल उपमान की तरह प्रयुक्त होता है) तू क्रीड़ा का नेत्र है और प्रभु का चरण है। (नेत्र और चरणों के लिए भी कमल की उपमा देते हैं।)

तू सुषमा का कर, कमल! रति मुखाब्ज उद्ग्रीव;
तू लीला-लोचन नलिन, ओ प्रभु-पद राजीव!

हे कमल! तू लहरों में खिला कर। सहज-सजल सौन्दर्य का तू जीवन-धन है और आर्य-जाति की लक्ष्मी का तू शुभ-सदन है। (लक्ष्मी का निवास कमल में मानते हैं।)

हे अरविन्द! जल-जाल में रह कर तू उससे अलिप्त रहता है, फिर कवि-जनों के मन-रूपी भ्रमर तुझ पर गुञ्जार क्यों न करें? तेरी प्रशंसा के गीत क्यों न गायें? दानी के सभी दास होते हैं। स्वयं दिनकर आ कर तेरे पट खोलता है, तुझे जगाता है। हे कमल! तू हम सबके सन्ताप हरता रह। जैसे तू खिला है, वैसे ही तुझे देख कर मेरा हृदय भी खिल उठता है। इसलिए हे सरस, सुगन्धित सहस्र-दल! तू खिलता रह।

* कमल-गट्टे में बीज होते हैं।

७

ओ मेरे मानस के हास !
खिल सहस्र-दल, सरस-सुवास ।

'ओ मेरे मानस के हास !'—यह पंक्ति छायावादी-शैली का स्मरण दिलाती है। 'द्वापर' में—'अहा गोपियों की यह गोष्ठी !' वाला प्रकरण तो, ऐसा मालूम होता है, जैसे किसी छायावादी कवि ने ही लिखा है। गुप्तजी ने सभी शैलियों में रचना की है, जो प्रतिनिधि-कवि के अनुरूप ही है।

भ्रमरी को संबोधित करके ऊर्मिला कहती है—

पैठी है तू षट्पदी, निज सरसिज में लीन ;
सप्तपदी देकर यहाँ बैठी मैं गति-हीन !

हे षट्पदी (भ्रमरी) ! तू अपने प्रिय कमल के अंक में संलग्न है, किन्तु सप्तपदी देकर भी मैं यहाँ गति-हीन बैठी हूँ !

'षट्पदी' और 'सप्तपदी' का प्रयोग यहाँ साभिप्राय है। 'षटपदी का शाब्दिक अर्थ है, छः पैर वाली, और यह 'भ्रमरी' का पर्यायवाची शब्द है। 'सप्तपदी' विवाह की एक रीति है जिसमें वर और वधू अग्नि के चारों ओर सात परिक्रमाएँ करते हैं जिससे विवाह पक्का हो जाता है। ऊर्मिला के कहने का तात्पर्य यह है कि भ्रमरी तो षट्पदी होकर ही अपने प्रिय कमल के साथ संयोग-सुख अनुभव करती है; किन्तु सप्तपदी देकर भी मैं आज अपने प्रियतम के पास नहीं पहुँच पाती ! षट्पदी तो उड़ कर अपने प्रियतम के पास पहुँच जाय और सप्तपदी देने वाली यों ही गति-हीन बैठी रहे, इसे दैव-दुर्विपाकके अतिरिक्त और क्या कहा जाय ?

बिखर करके कली झड़ती है किन्तु एक बार खिल कर संकुचित होना उसने कब सीखा है ? मैंने ही संकोच किया, प्रिय के चलते समय लज्जा की; उस समय अपना हृदय न खोल सकी, इसलिए अब इस हृदय में रुदन ही रुदन भरा रह गया !

बिखर कली झड़ती है, कब सीखा किन्तु संकुचित होना ?
संकोच किया मैंने, भीतर कुछ रह गया, यही रोना !

फिर मधुमक्खी को संबोधित करते हुए कहती है—

अरी, गूँजती मधु मक्खी ,
किसके लिए बता तूने वह रस की मटकी रक्खी ?
किसका संचय दैव सहेगा ?
काल घात में लगा रहेगा ,
व्याध बात भी नहीं कहेगा ,
लूटेगा घर लक्खी !
अरी, गूँजती मधुमक्खी !

हे गूँजती हुई मधुमक्खी, तू यह तो बता, छत्ते में जो मधु तूने इकट्ठा किया है, वह किसके लिए है ! दैव किसीके संचय को सहन नहीं करता; काल भी हमेशा घात लगाये रहता है कि संचय कर्त्ता को मैं किस प्रकार उसके संचय से वंचित कर दूँ ! व्याध* बिना कुछ पूछे-ताछे तेरा लाखों का घर लूट लेगा ।

इसे त्याग का रंग न दीजो ,
अपने श्रम का फल है लीजो ,
जय-जयकार कुसुम का कीजो ,
जहाँ सुधा-सी चक्खी !
अरी, गूँजती मधुमक्खी !

हे गूँजती हुई मधुमक्खी ! कृपण के धन की तरह मधु को केवल एकत्र करना और उसे काम में न लाना अच्छा नहीं । व्याध आकर जब तुम्हारे छत्ते को लूट ले तो तुम इस लूट पर त्याग का रंग मत चढ़ाना । तुम्हारी ओर से वास्तव में यह त्याग है भी नहीं;

* शहद निकालने वाली जंगली जाति का मनुष्य ।

क्योंकि त्याग तो स्वेच्छावश किया जाता है, पर तुम कुछ स्वेच्छावश थोड़े ही देती हो ! उस पुष्प का तो तुम अवश्य जय-जयकार करना, जहाँ से तुमने अमृत-सा चखा था। पुष्प से रस इकट्ठा करके यदि तुम उसे काम में न लो और व्याध द्वारा लुट जाओ तो इसमें पुष्प का क्या दोष है !

नीचे की अन्योक्ति द्वारा ऊर्मिला ने बड़े मार्मिक उद्‌गार प्रकट किये हैं:—

सखि, मैं भव-कानन में निकली
बन के इसकी वह एक कली,
खिलते-खिलते जिससे मिलने
उड़ आ पहुँचा हिल हेम-अली।
मुसकाकर आलि, लिया उसको,
तब लों यह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' कह गूँज यहाँ
किस ओर गया वह छोड़ छली !

हे सखि ! इस संसार रूपी वन में मैं एक कली बन कर आई थी; मैं खिली ही थी कि परच कर मिटने के लिए प्रेमी स्वर्ण भ्रमर आ पहुँचा। मैंने मुसकाकर उसका स्वागत किया; तभी न जाने कैसी हवा चली कि वह छलिया यह कहते हुए दूसरी ओर चला गया कि "बाट देखते-देखते जीवन व्यतीत करती रहो।" ऊर्मिला के कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने लक्ष्मण से प्रेम किया ही था कि वे मुझे छोड़ कर चले गये और अब उनकी प्रतीक्षा में जीवन के पहाड़-से ये दिन मैं काट रही हूँ !

ऊर्मिला के हृदय में दया का संचार हो रहा है। वह कहती है कि हे सखी, फूल मत तोड़; देख तो सही, मेरा हाथ लगते ही ये कैसे कुम्हला गये हैं। हमारे क्षणिक विनोद के कारण इनका कितना विनाश हो जाता है। उन फूलों को (जिन पर ओस पड़ी हुई है) देख कर ऊर्मिला कहती है—

छोड़, छोड़, फूल मत तोड़, आली, देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं ?
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आँसुओं से छाये हैं।

फिर कहती है कि जो फूल खिल चुके हैं और जिनका रूप, गुण, गन्ध तुझे अच्छा लगता है, उन्हें सहर्ष चुन ले, क्योंकि लतिका ने अपने प्यारे बच्चों (फूलों) को निष्फल ही पैदा नहीं किया है, इसलिए पैदा नहीं किया है कि वे झड़ जायँ; वल्कि इसलिए पैदा किया है कि वे गौरवपूर्वक (देवता की प्रतिमा पर) चढ़कर अपने जीवन को सार्थक करें।

'जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिए,
गौरव के संग चढ़ने के लिए जाये हैं।'

कली खिलने के लिए आकुल-व्याकुल है। हिल-डुल कर वह अपनी अभिलाषा प्रकट कर रही है। ऊर्मिला अपने प्रियतम से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक है, उसे पूर्ण आशा भी है कि वह अपने प्रिय से मिल सकेगी। कली का उद्देश्य है खिलना, ऊर्मिला का उद्देश्य है प्रियतम से मिलना। उद्देश्य चाहे भिन्न हों पर प्रयत्न दोनों के समान हैं। इसीलिए कली को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है—

कैसी हिलती-डुलती अभिलाषा है
कली, तुझे खिलने की,
जैसी मिलती-जुलती उच्चाशा है
भली मुझे मिलने की।

पिछले पद्यों की व्याख्या में कहीं-कहीं आन्तरिक तुक का उल्लेख किया गया है किन्तु यह पद्य तो आन्तरिक तुक की सीमा को भी पार कर गया है; यहाँ तो प्रत्येक शब्द में तुक-साम्य है। यथा—

कैसी कली हिलती-डुलती तुझे अभिलाषा है खिलने की
जैसी भली मिलती-जुलती मुझे उच्चाशा है मिलने की

और ऐसा लगता है, जैसे यह सब अनायास हो गया है, कहीं भी कृत्रिमता नहीं लक्षित होती।

यहाँ पर अभिलाषा को 'हिलती-डुलती' कहा गया है, पर वस्तुतः यह कली का विशेषण है। अभिलाषा हिलती-डुलती नहीं, कली ही हिल-डुल कर अपनी अभिलाषा प्रकट कर रही है। अँग्रेजी में इस प्रकार के लाक्षणिक-प्रयोग को विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) का नाम दिया गया है। हिन्दी के छायावादी-कवियों की रचनाओं में इस तरह के प्रयोग बहुत मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ लीजिये—

(१) चल चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ आज वह वृन्दा-धाम?

(निराला)

(२) बच्चों के तुतले भय-सी

(पन्त)

ऊर्मिला कहती है कि हे कली, मान करना (रूठना) छोड़ दे। भ्रमर आया है तो हँसकर उसका स्वागत कर। यह समय फिर नहीं आने का; फिर तो न तुझमें रस रह जायगा और न भ्रमर ही आयेगा। झोंकों में पड़कर सिर न हिला (इन्कार न कर); सहृदयता को सदा ताजा बनाये रख। यदि भीतर पुष्प-रज है तो भी प्रियतम से उसको न छिपा; अपने प्रिय के सामने कमजोरी भी खोलकर रख दे।

"मान छोड़ दे, मान, अरी,
कली अली आया, हँस कर ले, यह वेला फिर कहाँ धरी?
सिर न हिला झोंकों में पड़ कर, रख सहृदयता सदा हरी,
छिपा न उसको भी प्रियतम से यदि है भीतर धूलि भरी।"

इस अन्योक्ति के साथ 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा का निम्नलिखित गीत भी पढ़िये—

यौवन ! तेरी चंचल छाया ।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया ।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया ।
जीवन वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया ।
पल भर रुकने वाले ! कह तू पथिक ! कहाँ से आया ?

ऊर्मिला के मन में रह रह कर यह आता होगा कि उसकी तो यह चढ़ती वेला प्रिय-विरह की लम्बी अवधि के कारण व्यर्थ ही बीत रही है, किन्तु दूसरी नायिकाएँ अपने प्रियतमों से रूठकर क्यों इस पल भर रुकने वाले यौवन का रस नहीं लेतीं ? यह एक विचित्र मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो वस्तु दैव-दुर्विपाक से हमारे लिए अलभ्य हो गई है, हम चाहते हैं कि दूसरे उस वस्तु की सुलभता-जन्य खुशी से वंचित न रहें। दुख के कारण वृत्तियों में जो एक प्रकार की कोमलता आ जाती है उसके कारण हम दूसरों के सुख की इच्छा करने लगते हैं और इस पुनीत इच्छा में हमारे दुखी मन को कुछ शान्ति मिलती है।

ऊर्मिला की चढ़ती वेला प्रिय-विरह में ही बीत चली थी; तभी तो प्रिय से मिलन होने पर उसने कहा था—

"स्वामी, स्वामी, जन्म-जन्म के स्वामी मेरे !
किन्तु कहाँ वे अहोरात्र, वे साँझ-सवेरे !
खोई अपनी हाय ! कहाँ वह खिल खिल खेला ?
प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला ?"

और कोई धूल उड़ाये तो बुरा लगेगा किन्तु पुष्प यदि पराग उड़ाता है, तो वह सदा आमोद-प्रद ही होता है। रूप-सम्पन्न द्वारा की गई वह चेष्टा भी हमें अच्छी लगती है जो दूसरों के द्वारा की जाने पर अप्रिय जान पड़ती है।

भिन्न भी भाव-भंगी में भाती रूप-सम्पदा,
फूल धूल उड़ाके भी आमोदप्रद है सदा।

'आमोद' यहाँ श्लिष्ट शब्द है जो हर्ष और सुगन्धि दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

ऊर्मिला कहती है कि हे फूल! जहाँ तक रूप-गुण का सवाल है, तू बेजोड़ है, किन्तु फल की दृष्टि से तुझे अनुपम नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य के साथ उपयोगिता भी तो चाहिए!

फूल, रूप-गुण में कहीं मिला न तेरा जोड़;
फिर भी तू फल के लिए अपना आसन छोड़।

विरहिणी की उक्ति है कि हे सखी! आज कलियाँ बिखर गई हैं। अस्पष्ट अंधकार के समय इनके साथ रँग-रलियाँ करके इनका प्रेमी पवन किधर चला गया? उपवन की इन वीथियों की ओर आकृष्ट होकर क्या पवन फिर कभी इधर फेरा करेगा? जो रँगस्थलियाँ थीं उन्हींमें मुरझा कर यदि वे कलियाँ गिर जायँ तो आज इनके लिए यही बहुत है!

सखि, बिखर गई हैं कलियाँ,
कहाँ गया प्रिय झुकामुकी में करके वे रँग-रलियाँ?
भुला सकेंगी पुन पवनको अब क्या इनकी गलियाँ?
यही बहुत, ये पचें उन्हीं में जो थी रंगस्थलियाँ!

'झुकामुकी' प्रातःकाल या सन्ध्या का वह समय होता है, जबकि कोई व्यक्ति स्पष्ट नहीं पहचाना जाता; ऐसा समय जबकि अँधेरे में किसी व्यक्ति या पदार्थ को पहचानने में कठिनाई हो। 'झुकामुकी' या 'झुकामुखी', दोनों शब्द प्रचलित हैं। 'झुकामुखी' के लिए ठाकुर की निम्नलिखित पंक्ति को लीजिये—

"जानि झुकामुखी भेष छपाय कै
गागरी लै घर तें निकरी ती।"

ऊर्मिला को भी लगता है जैसे उसके जीवनोद्यान की कलियाँ बिखर गई हैं। उसके मन में एक हूक-सी उठती है और वह सोचती है कि उसका वनचारी प्रिय क्या फिर कभी अयोध्या के

उपवनों की ओर लौटेगा ? ये पहाड़ से १४ वर्ष तो बीतने से रहे; अब तो यही अच्छा है कि जिस स्थान में प्रियतम के साथ रँगरलियाँ की थीं, वहीं इस जीवन का अवसान हो जाय ! प्रिय साथ न होंगे तो प्रिय की रँगस्थलियों से लिपटी हुई मधुर स्मृतियाँ तो साथ रहेंगी !

हे सखि ! नाक से कुछ कहकर फूलों की मधुमय सुगन्ध चली गई। वृक्षों के फल हमें मिलते रहें, यह तो ठीक है किन्तु बीजों की रक्षा अवश्य होनी चाहिए; वृक्षों की वंश-वृद्धि नहीं रुकनी चाहिए।

कह कथा अपनी इस घ्राण से,
उड़ गये मधु-सौरभ प्राण-से,
फल मिलें हमको-तुमको सखी,
तदपि बीज रहें सब त्राण से।

ऊपर की पंक्तियों में 'त्राण' का प्रयोग शब्दार्थ की दृष्टि से भले ही ठीक हो, पर इस शब्द का प्रयोग यहाँ समीचीन नहीं जान पड़ता। 'हिफाजत से' के अर्थ में 'त्राण से' का प्रयोग अभी लोक-व्यवहार में मान्य नहीं हो पाया है।

कोकिल जब कूकती है तो आज विरहिणी ऊर्मिला को ऐसा लगता है जैसे वह हूक भर रही है। उसी के शब्दों में "वह कोकिल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है।"

कोकिल को संबोधित करके वह कहती है कि हे कोकिल ! तेरा यह कूकना कैसा ? इससे तो हृदय में हूक उठती है। कितना कारुण्य, कितनी दारुणता और कितनी गम्भीरता तेरी इस कूक में भरी है; यह तो आसमान का भी हृदय चीर कर आरपार निकल गई है। एक आँख का पानी तो किसी तरह रोका भी जाय पर यहाँ तो दो-दो आँखें एक साथ अश्रु-प्लावित हो रही हैं। हे कोकिल ! बता तो सही, कैसा है तेरा यह कूकना ? यह तो प्रबल ज्वाला के समान जान पड़ता है।

उठती है उर में हाय ! हूक ,
ओ कोइल, कह यह कौन कूक ?
क्या ही सकरुण, दारुण, गभीर ,
निकली है नभ का चित्त चीर ,
होते हैं दो दो दृग सनीर ,
लगती है लय की एक लूक !
ओ कोइल, कह यह कौन कूक ?

लेकिन हे कोकिल ! दुनियाँ की रीति भी क्या ही अनोखी है; तू तो वेदना से चिल्लाती है, पर जग के कुटिल लोगों को तेरे क्रन्दन में भी संगीत सुनाई देता है। दुनियाँ के हम लोग रसिक जो ठहरे, दूसरों के दुःख में भी रस लेने से क्यों चूकें !

तेरे क्रन्दन तक में सु-गान ,
सुनते हैं जग के कुटिल कान ,
लेने में ऐसा रस महान ।
हम चतुर करें किस भाँति चूक !
ओ कोइल, कह यह कौन कूक ?

हे कोकिल ! दुःख हैं तो दुःखों का अन्त भी है। मुझे ही देख, वियोगिनी होकर मैं आज सब प्रकार से दुःखिनी बनी हूँ किन्तु मेरे दुःखों का भी कभी अन्त होगा, मेरे प्रेमी पति भी लौट कर आयेंगे; उसी तरह हे कोकिल ! तू भी धैर्य धारण कर, वसन्त आयेगा और साथ ही तेरा मादक उल्लास भी लौट आयेगा, दुर्दिन में, चुप हो बैठे रहना चाहिए। रहीम भी तो यही कह गये हैं—

"रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देख दिनन कौ फेर ।
जब दिन नीके आइ हैं, बनत न लगिहै देर ॥"

दुखी मनुष्य समदुखी व्यक्ति को ढाढस बँधाता देखा गया है, चाहे एकान्त में वह स्वयम् कितने ही आँसू क्यों न बहाये ! कोकिल को सान्त्वना देती हुई इस विरहिणी को तो देखिये—

री, आवेगा फिर भी वसन्त,
जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।
दुःखों का भी है एक अन्त,
हो रहिये दुर्दिन देख मूक।
ओ कोइल, कह यह कौन कूक?

ऊर्मिला हृदय के प्रेम-रहस्य को गुप्त रखना चाहती थी, इसलिए अपने एक मन को तो वह किसी तरह रोके रही, पर इन दो नेत्रों ने रोकर सब रहस्य खोल दिया!

अरे एक मन, रोक थाम तुझे मैंने लिया,
दो नयनों ने, शोक, भरम खो दिया, रो दिया!

'दो नयनों ने रो दिया' यह प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से कुछ चिन्त्य जान पड़ता है। भूतकाल में सकर्मक क्रिया हो तो साधारणतया कर्त्ता के आगे 'ने' लगता है, अकर्मक हो तो 'ने' नहीं लगता। संयुक्त क्रिया में यदि सकर्मक+अकर्मक क्रिया हो तो कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग नहीं होता। जैसे मैं वहाँ भोजन न कर सका। किन्तु संयुक्त क्रिया यदि अकर्मक+सकर्मक होती है तो भी सामान्यतया 'ने' नहीं आता, पर अन्त में सकर्मक क्रिया के कारण 'ने' का व्यवहार भी देखा सुना जाता है। 'उसने रो दिया' में अकर्मक+सकर्मक है; है यहाँ 'दिया' के सकर्मक होने के कारण 'लोगों ने' लगा कर भी बोलते हैं।

ऊर्मिला अपने आँसुओं को संबोधित करके कहती है—

हे मानस के मोती, ढलक चले तुम कहाँ विना कुछ जाने?
प्रिय हैं दूर गहन में, पथ में है कौन जो तुम्हें पहचाने?

हे मेरे मन रूपी मानसरोवर के मोती! विना कुछ जाने तुम कहाँ ढलक चले? मानस को छोड़कर तुम्हारा अज्ञात प्रदेश में जाना व्यर्थ है। इस वेदना के स्वरूप को संसार क्या पहचानेगा! मेरे प्रिय तो वन में दूर हैं; वे यहाँ होते तो समझते भी—

न जा अधीर धूल में,
दृगम्बु, आ, दुकूल में।
रहे एक ही पानी चाहे हम दोनों के मूल में,
मेरे भाव आँसुओं में हैं, और लता के फूल में।
दृगम्बु, आ, दुकूल में।

हे मेरे आँसू! तू अधीर होकर धूल में न गिर, तू मेरे अंचल में आजा। वह पानी लता को सींचता है, उसे लहलहाकर फुलाता है, वही पानी मेरी आँखों से निकल कर मेरी वेदना को व्यंजित करता है। एक ही पानी वेदना और प्रफुल्लता दोनों का द्योतक है।

फूल और आँसू दोनों ही उठें हृदय की हूल में,
मिलन-सूत्र-सूची से कम क्या अनी विरह के शूल में।
दृगम्बु, आ, दुकूल में।

हृदय के मनोवेग से ही फूल और आँसू उठते हैं। सुई और धागे के द्वारा फूल एक लड़ी में गूँथे जाते हैं, ऊर्मिला कहती है कि उसी प्रकार क्या मैं भी अश्रु-लड़ी नहीं पिरो सकती? सुई की जगह यहाँ विरह का शूल है, वही अश्रुओं को छेदे।

मधु हँसने में, लवण रुदन में रहे न कोई भूल में,
मौज किन्तु मझधार बीच है किंवा है वह कूल में?
दृगम्बु, आ, दुकूल में।

हास में मीठा स्वाद है और रुदन में खारा, सच्चा आनन्द इन दोनों में नहीं। सच्चा आनन्द है मध्य मार्ग के अवलंबन करने में, 'मध्यमा प्रतिपदा' का आश्रय लेने में। हास्य और रुदन की जो मध्य दशा है वहीं शान्ति मिल सकती है। न तो अधिक हँसना एवं उछलना-कूदना ही अच्छा है, न अधिक रोना-धोना ही। अथवा शान्ति है हास्य और रुदन इन दोनों से तटस्थ रहने में, जैसे विरक्त लोग रहा करते हैं। "मौज किन्तु मँझधार बीच है" को पढ़कर

प्रसादजी की निम्नलिखित पंक्ति का स्मरण हो आता है—

'छोड़कर जीवन के अतिवाद ,
मध्य-पथ से लो सुगति सुधार"

ऊर्मिला अपने मन को सम्बोधित करके कहती है कि हे मन ! तू तो चाहे जहाँ पहुँच सकता है, तेरी तो सर्वत्र गति है। तेरे लिए क्या निकट और क्या दूर ? हाँ, नेत्रों की पहुँच सर्वत्र नहीं, उन्हें चाहे रोने दे—

नयनों को रोने दे, मन, तू संकीर्ण न बन, प्रिय बैठे हैं ?
आँखों से ओझल हों, गये नहीं वे कहीं, यहीं पैठे है !

प्रिय यदि आँखों से ओझल हो गये तो क्या, मन से तो ओझल नहीं हुए। इसलिए हे मन ! तू व्यर्थ ही क्यों उन्मन हो रहा है ? विरहणी की इस विलक्षण उक्ति को तो देखिये—

आँख, बता दे तू ही, तू हँसती या यथार्थ रोती है ?
तेरे अधर-दशन ये, या तू भर अश्रु-बिन्दु ढोती है ?

रोते-रोते आँखें लाल हो जाती हैं जिनको कवि लाल अधरों के समान मान लेता है और आँखों से जो आँसू गिरते हैं, उनको वह दाँतों के समान समझ लेता है। हँसने के लिए भी लाल-लाल अधरों और दाँतों के सिवाय औरक्याचाहिए ! इसीलिए ऊर्मिला कहती है कि हे आँख ! तू सच-सच बता, तू रोती है या हँसती है ? (दन्तुल पति की तरह तेरे भी रोने या हँसने का कुछ पता नहीं चलता !)

अपने प्रिय को सम्बोधित करते हुए ऊर्मिला कहती है—

सखे, जाओ तुम हँस कर भूल, रहूँ मैं सुध करके रोती !
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती !
मानती हूँ, तुम मेरे साध्य ,
अहर्निशि एक मात्र आराध्य ;
साधिका मैं भी किन्तु अबाध्य ,

जागती होऊँ, या सोती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!

हे सखे! तुम्हारे हँसते हुए मुख का स्मरण करके मैं रोती रहती हूँ। किन्तु मेरे रुदन का मूल्य भी तुम्हारे हास्य से कम नहीं। तुम्हारा हास्य यदि पुष्प-हास के समान है तो मेरे आँसू मोती के तुल्य हैं; और मोती फूल से कम कीमती नहीं होते। यह मैं मानती हूँ कि तुम्हीं मेरे एक मात्र इष्ट हो, दिन-रात तुम्हीं मेरे आराध्य हो; किन्तु यह भी याद रहे कि मैं भी, चाहे जागती रहूँ चाहे सोती होऊँ, तुम्हारी ही अखण्ड साधना में दत्तचित्त हूँ।

सफल हो सहज तुम्हारा त्याग,
नहीं निष्फल मेरा अनुराग,
सिद्धि है स्वयं साधना-भाग,
सुधा क्या, क्षुधा जो न होती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!

बिना साधक के साध्य वस्तु का मूल्य ही क्या? दोनों का गौरव अन्योन्याश्रित है। मगर लोगों को अमृत की चाह न हो तो सुधा का कोई मूल्य नहीं। ऊर्मिला कहती है कि मेरे लिए यह साधना सिद्धि-स्वरूपा है। वह अपने अनुराग को निष्फल नहीं समझती और यह इच्छा प्रकट करती है कि अयोध्या छोड़कर वनवास द्वारा प्रिय ने जो त्याग किया है, उसमें उनको पूरी सफलता मिले।

काल की रुके न चाहे चाल,
मिलन से बड़ा विरह का काल;
वहाँ लय, यहाँ प्रलय सुविशाल!
दृष्टि मैं दर्शनार्थ धोती?
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!

संयोग से वियोग बड़ा है। संयोग में केवल लय है, प्रिय में

लीन हो जाना है; किन्तु वियोग में प्रलय है, प्रकृत रूप से लीन हो जाना है। 'प्रलय' में 'लय' का अन्तर्भाव तो है ही, 'प्र' और अधिक है। सात्विक अनुभावों में भी 'प्रलय' की गणना की गई है, जिसकी निम्नलिखित परिभाषा साहित्यदर्पणकार ने दी है—

"प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः"

अर्थात् सुख अथवा दुःख के कारण चेष्टा और ज्ञान के नष्ट हो जाने का नाम 'प्रलय' है। ऊपर की पंक्तियों में प्रिय की याद में पूर्ण रूप से अपनी सुध-बुध भूल जाने के अर्थ में 'प्रलय' शब्द का प्रयोग हुआ है।

ऊर्मिला कहती है कि हे प्रिय! तुम्हारे दर्शन के लिए आँसुओं से बराबर धोकर मैं अपनी आँखों को स्वच्छ रखती हूँ।

दृष्टि मैं दर्शनार्थ धोती!
तुम्हारे हँसने में हैं फूल, हमारे रोने में मोती!

ऊर्मिला के मन का अभिप्राय शब्दों द्वारा प्रकट होना चाहता है। इसी सम्बन्ध में वह कहती है—

अर्थ, तुझे भी हो रही पद-प्राप्ति की चाह?
क्या इस जलते हृदय में और नहीं निर्वाह?

हे मेरे हृदय की बात! क्या तू भी शब्दों द्वारा प्रकट होना चाहती है? इस ज्वाला का क्या और कोई उपाय नहीं? क्या वेदना को शब्दों द्वारा व्यक्त करना ही होगा? मन की अभिलाषा को प्रकट किये बिना रहा भी तो नहीं जाता। ऊपर के दोहे में 'अर्थ' और 'पद-प्राप्ति' श्लिष्ट शब्द जान पड़ते हैं। अर्थ को पद-प्राप्ति की चाह रहा ही करती है; अर्थ और पद (शब्द) तो परस्पर संपृक्त कहे गये हैं।* 'अर्थ' का अर्थ है अभिप्राय और 'पद' का अर्थ है 'शब्द'। 'अर्थ' का दूसरा अर्थ किया जा सकता है 'हृदय की बात'। 'पद-

* वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये (रघुवंश)

प्राप्ति' से प्रिय के चरणों का सामीप्य भी ध्वनित होता है किन्तु यह अर्थ केवल व्यञ्जित ही है, अन्वित नहीं। ऊपर के दोहे में 'भी' शब्द से निम्नलिखित-भाव ध्वनित होता है—

'अर्थ' को तो शब्द का अर्थ लेना ही पड़ता है किन्तु हे मेरे अर्थ! (मेरे हृदय के मनोरथ!) यह कैसी बात है कि तू भी पद-प्राप्ति (शब्द द्वारा अभिव्यक्ति अथवा प्रिय-चरण सामीप्य) की चाह करने लगा! हे मेरे मन के अभिलाष! तू तो मन में ही निहित रहता तो अच्छा था। किन्तु जान पड़ता है, हृदय की बात को प्रकट किये बिना गुजारा नहीं। इस दोहे का उक्ति-वैचित्र्य द्रष्टव्य है।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखी! मेरे गाने में भी विषाद का स्वर मिला हुआ है, मेरा गाना ही रोना बन गया है। इस विषाद-पूर्ण संगीत की तान प्रिय तक नहीं पहुँच पाती, नहीं तो वे अवश्य द्रवीभूत होते। दुःख से इतना लदा हुआ होता है मेरा गान कि उसके बोझ को हवा नहीं सँभाल पाती; मेरे संगीत के स्वर-ताल शून्य में बिखर जाते हैं। मेरा गाना रोना सब विफल हो जाता है।

स्वजनि, रोता है मेरा गान,
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।
झिलता नहीं समीर पर इस जी का जञ्जाल,
झड़ पड़ते हैं शून्य में बिखर सभी स्वर-ताल।
विफल आलाप-विलाप समान,
स्वजनि, रोता है मेरा गान।

मेरा भावानन्द स्वच्छन्द-गति से उड़ने के लिए तड़प रहा है; मेरे हृदय की उमंग बाहर आने में किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करना नहीं चाहती किन्तु मेरी कर्त्तव्य-बुद्धि का आग्रह है कि मैं अपने पद-गौरव का ध्यान रखते हुए अपनी हृदय-गत भावनाओं को मर्यादित रखूँ जिससे किसी प्रकार का अनौचित्य मुझसे न हो जाय—

उड़ने को है तड़पता मेरा भावानन्द ,
व्यर्थ उसे पुचकार कर फुसलाते हैं छन्द ।
दिला कर पद-गौरव का ध्यान ,
स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

ऊपर की पंक्तियों में 'छन्द' तथा 'पद-गौरव' के श्लिष्ट प्रयोग द्वारा दूसरा अर्थ भी ध्वनित होता है।

'छन्द' शब्द अपने प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त हृदय की अभिलाषा अथवा उमंग का भी द्योतक है। इसी प्रकार 'पद-गौरव' भी 'शब्द-सौष्ठव' और 'राजकुल की रमणी के पद'—इन द्विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है; अथवा 'पद-गौरव' उस उच्च-स्थिति का स्मरण दिलाता है जो लक्ष्मण के उदात्त आदर्श-पालन द्वारा ऊर्मिला को प्राप्त हुई है। ऊपर की पंक्तियों से व्यञ्जित होता है कि कवि पर भी छन्दों का प्रतिबन्ध रहता है जिससे भावों में स्वच्छन्द प्रवाह नहीं आने पाता।

अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात ,
अपनी ही आँखें उसे ढाल रहीं दिन रात ।
बना देते हैं सभी अजान ,
स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

ऊर्मिला कहती है कि मेरे ही आँसू मेरे हृदय का रहस्य प्रकट कर देते हैं; चतुर तो भेद को गुप्त रख सकते हैं। 'आँख का पानी ढल जाना' एक मुहावरा भी है जिसका अर्थ है लाज-शर्म का जाता रहना। ऊपर की पंक्तियों में इस मुहावरे का भी प्रयोग बड़ी चतुराई से कर दिया गया है। विरहिणी की प्रतिष्ठा आज उसका साथ छोड़ रही है; उसकी आँखों का पानी ढल कर उसकी निर्लज्जता को प्रकट कर रहा है।

दुख भी मुझसे विमुख हो करें न कहीं प्रयाण ,
आज उन्हीं मे तो तनिक अटके हैं ये प्राण ।
विरह में आ जा तू ही मान !
स्वजनि, रोता है मेरा गान ।

ऊर्मिला कहती है कि कहीं ऐसा न हो कि दुःख भी मुझसे विमुख होकर अन्यत्र प्रयाण कर जायँ, आज दुःखों में ही तो किसी प्रकार मेरे प्राण अटके हैं। दुःख के सिवाय कोई अनुभूति मुझमें नहीं रह गई; अब यदि यह भी न रहे तो मैं मर ही गई समझो! बड़ी काव्यात्मक-उक्ति है यह!

अपने 'गीति-काव्य' नामक ग्रन्थ में श्री रामखेलावन पांडेय उक्त गीत की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

ऊर्मिला यहाँ अकेली रोती है, गाती है, उसके मन में पीड़ा है, व्यथा है, उद्वेग है, विह्वलता है; किन्तु हृदय के इस आवेग से तो प्रिय अपरिचित ही रह गये। उन्हें यह भी पता नहीं कि ऊर्मिला के आँसू किस प्रकार छलछला रहे हैं! हाय री विकलता, इस विषाद-पूर्ण गीत की तान प्रिय तक पहुँच पाती! इसके सभी स्वर-ताल शून्य में बिखर जाते हैं।

जहाँ कोई नहीं, जहाँ कोई सुनने वाला नहीं, कोई ऐसा नहीं जो प्रिय को इनका सन्देश देता। चपल-गति समीर भी हृदय की यह तपन समझता नहीं, उसमें भी इसके कम्पन उत्पन्न नहीं होते जो प्रिय के कानों में यह तान जा पहुँचे। प्रिय के वियोग के कारण गाना ही रोना बन गया है, इसका कम दुःख नहीं कि यह रुदन प्रिय तक नहीं पहुँच पाता। यह अधीरता का कम कारण नहीं, काश यह प्रिय के कानों तक पहुँच पाता। फिर इतनी व्यथा नहीं रहती; आखिर इस आलाप-विलाप-प्रलाप का कुछ मूल्य तो हो जाता। 'स्वर-ताल' के शून्य में झड़ पड़ने के कारण उस वन-फूल की ओर ध्यान चला जाता है जिसकी मदिर अन्ध-गन्ध जग को मतवाला नहीं करती, जो प्रेयसी के अलकों का शृंगार नहीं बनता, रसिकों के गले नहीं लगता, एक दीर्घ-निःश्वास छोड़कर जो अनन्त-शून्य में बिखर जाता है। ऊर्मिला के गीत भी इसी प्रकार व्यर्थ फैल जाते हैं। ऊर्मिला के भाव उड़ने को तैयार हैं, उसके भाव प्रिय तक पहुँचना चाहते हैं, लेकिन छन्द उन भावों के लिए बन्धन बन जाते हैं। भाव पंख पसार कर उड़ नहीं पाते।

सूरदास की गोपियों की आँखें भी इस प्रकार नहीं उड़ पातीं पर यहाँ तो भावानन्द ही उड़ना चाहता है; अभिव्यक्ति इतनी अपूर्ण रह जाती है कि भाव अभिव्यक्त नहीं हो पाते। पद-गौरव का ध्यान दिला कर छन्द फुसलाने की चेष्टा करते हैं किन्तु यह प्रयत्न व्यर्थ-सा जाता है। भाव छन्दों की फुसलाहट में नहीं आते। और उन्मुक्त विहंग-से पिंजड़े में फँसते नहीं। इस पद-गौरव में केवल छान्दस-पद का ही ध्यान नहीं बल्कि ऊर्मिला की उस हार्दिक-वृत्ति की भी अभिव्यञ्जना है जिसके कारण वह खुल कर रो नहीं पाती। उसके आँसुओं में तीव्रता नहीं आ सकती। भाव और छन्द की इस भूमिका में पन्त और निराला के छन्द स्वातन्त्र्य की व्याख्या-सी है।.........ऊर्मिला चाहती है आँसू आँखों में ही बन्द रह जायँ क्योंकि वे बाहर आकर हृदय का सारा रहस्य प्रकट कर देते हैं, भेद बुझा देते हैं।

रहिमन अँसुवा नयन ढरि जिय दुख प्रकट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कह देइ॥

.........वह रोती है अवश्य किन्तु सहसा पद-गौरव का ध्यान उसके आँसुओं की झड़ी बन्द कर देता है, ठीक वैसे ही जैसे अक्षम कवि के छन्द उसके भावों का पर कुतर देते हैं। बिछुड़े प्रिय की याद ऊर्मिला को सदा सताती है, कभी चैन नहीं लेने देती; किन्तु प्रिय उसी वेदना में जीवित रहता है। वेदना, व्यथा, पीड़ा उस जीवन के आधार और तत्त्व हैं। सुख-संयोग में जिस प्रकार प्रिय का साहचर्य जीवन का आधार है, उसी प्रकार वियोग में उसकी स्मृति।"

ऊर्मिला के मन में यह इच्छा पैदा होती है कि धन-धाम छोड़ कर मैं भी उसी वन में रहने लगूँ जहाँ प्रिय रहते हैं। दूर-दूर से प्रिय का मैं दर्शन मात्र करती रहूँगी, संयोग-सुख मुझे नहीं चाहिए। उनके तप में मैं किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालना चाहती। प्रत्यक्ष रूप में समागम न होने की व्यथा चाहे बनी रहे, किन्तु

दूर-दूर से प्रिय के दर्शन करते रहने से वहाँ सन्तोष की सामग्री भी बनो रहेगी। वहाँ हर्ष रोदन में डूबा रहेगा, किन्तु यहाँ तो हर्ष है ही नहीं! बीच बीच में झुरमुट की ओट में मैं उन्हें देख लूँ और जब वे निकल जायँ तो उसी धूल में लोट जाऊँ। वे अपने साधन में लगे रहें, मैं तो कभी-कभी उनके केवल दर्शन भर कर लेना चाहती हूँ। जन-मात्र को भी यह बात सुनाती जाऊँ कि केवल धन के पीछे इतना उत्पात मचाना ठीक नहीं।

जाती जाती, गाती गाती, कह जाऊँ यह बात,
धन के पीछे जन जगती में उचित नहीं उत्पात।
प्रेम की ही जय जीवन में।
यही आता है इस मन में।

ऊर्मिला के क्षोभ की अच्छी व्यंजना ऊपर की पंक्तियों में हुई है। विरहिणी किस प्रकार प्रिय-दर्शन की इच्छा प्रकट करती है, यह नीचे के गीत में पढ़िये:—

अब जो प्रियतम को पाऊँ,
तो इच्छा है, उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ!
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ।

काव्य में सर्वत्र तार्किक बुद्धि का आश्रय लेने से सम्यक् रसास्वादन नहीं हो सकता। ऊर्मिला स्वयं अवधि बनकर अपने आपको मिटाने के लिए तयार है। कोई यदि तर्क का सहारा लेकर यह कहने लगे कि जब ऊर्मिला अवधि बनकर अपने आपको मिटा देगी तब फिर प्रिय से मिलेगी क्या खाक! तो उस तार्किक की तर्क-बुद्धि पर कोई आक्षेप नहीं करेगा किन्तु तर्क और काव्य का अनुशीलन दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। हेत्वाभास के कारण किसी शुष्क तार्किक को चाहे इन पंक्तियों में आनन्द न मिले, इनको असत्य कह कर चाहे वह इनकी खिल्ली उड़ावे किन्तु कोई भी सहृदय पाठक

इस रसात्मक उक्ति से आनन्द उठाये विना नहीं रह सकता। काव्य में हेत्वाभास भी आनन्द का कारण हो जाता है। ऊपर की पंक्तियों में प्रिय दर्शन का औत्सुक्य व्यंजित हुआ है।

ऊर्मिला कहती है—

ऊषा-सी आई थी जग में, सन्ध्या-सी क्या जाऊँ !
श्रान्त-पवन-से वे आवें, मैं सुरभि-समान समाऊँ !

ऊषा के समान कांति, प्रफुल्लता और जागृति लेकर मैंने संसार में प्रवेश किया था, क्या सन्ध्या की-सी उदासी लेकर मैं यहाँ से जाऊँ ? मैं तो चाहती हूँ कि मेरे प्रियतम मन्द पवन की तरह आवें और मैं पवन में सुगन्ध के समान धीरे से प्रिय में लीन हो जाऊँ।

निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यंजना का वैचित्र्य स्पष्ट देखा जा सकता है—

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है रोना आवे तो मैं आऊँ !

हार्दिक दुःख शब्दों द्वारा व्यक्त होना चाहता है किन्तु उधर शब्द कहते हैं कि जब तक दुःख पूर्णतः प्रकट नहीं होगा, हम नहीं निकलेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय के द्रवीभूत होने पर ही सच्ची कविता फूटती है।

'मचल रहा है' लाक्षणिक प्रयोग है। बच्चा जैसे किसी चीज के लिए मचल उठता है, उसी तरह यहाँ भी दुःख का आवेग अभिव्यक्ति के लिए तड़प रहा है। 'रोदन' का यहाँ पर मानवीकरण हुआ है; ऐसा लगता है जैसे रोदन ऊर्मिला का कोई हठी शिशु हो जो किसी वस्तु के लिए मचल उठा है। रोदन हठ करता है कि मुझे गान चाहिए; उधर गान भी कितना सहेतुक उत्तर देता है— "रोदन आवे तो मैं आऊँ; (नहीं तो आये मेरी बला।)" यहाँ पर गान का भी मानवीकरण ही समझिये। उक्त पंक्तियों में दो बच्चों के

शिशु-सुलभ व्यवहार की प्रतीति-सी भी हो रही है। बच्चे भी तो इसी प्रकार हठ किया करते हैं, "वह जब नहीं आता तो मैं ही क्यों आऊँ? मुझे ही क्या पड़ी है?" शिशुओं की इस सामान्य तर्क-पद्धति से कौन ऐसा विज्ञ पाठक है जो अपरिचित है? तो फिर 'रोदन' और 'गान' क्या ऊर्मिला के दो सफल हठी शिशु हैं?

पुराकाल में आदि कवि का रोदन जब मचल उठा था, तब अनायास ही उनका संगीत निम्नलिखित छन्द के रूप में मुखरित हो उठा था—

"मा निषाद तिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥"

महाकवि कालिदास के शब्दों में कवि का शोक ही श्लोक बन गया था "श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।" इसी तथ्य को हिन्दी के स्वनामधन्य कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने निम्नलिखित अमर पंक्तियों में जड़ दिया है—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥

करुण-रस को ही एक मात्र रस मानने वाले भवभूति, तथा अत्यन्त विषाद पूर्ण भावों में ही मधुरतम संगीत की सत्ता स्वीकार करने वाले अँग्रेजी के महाकवि शैली* ने भी प्रकारान्तर से वही बात कही थी जो ऊपर की पंक्तियों में गुप्तजी द्वारा कही गई है। इसी तरह का एक सुन्दर गीत 'यशोधरा' में भी है जिसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं:—

रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गाकर रोती है मेरी हत्तन्त्री की तान।

---

* They learn in suffering what they teach us in song—Shelley.

मीड़-मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक ;
चातक की हुत-हृदय-हूति जो, सो कोइल की कूक।
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान।
रुदन का हँसना ही तो गान।
यदि उमंग भरता न अद्रि के ओ तू अन्तर्दाह,
तो कल कल कर कहाँ निकलता निर्मल सलिल-प्रवाह ?
सुलभ कर सबको मज्जन-पान।
रुदन का हँसना ही तो गान।

उर्मिला कहती है कि मेरा हृदय तो वियोगाग्नि का आश्रय-स्थल है और इधर आँखों में पानी भरा है! वाष्प के लिए आग और पानी दोनों उपकरण मौजूद हैं किन्तु उस भाप के जोर से मेरा शरीर रूपी बर्तन कहीं फूट न जाय! अधिक वाष्प के बन्द रहने से बर्तन फूट ही जाता है।

इधर अनल है और उधर जल हाय! किधर मैं जाऊँ ?
प्रबल वाष्प, फट जाय न यह घट कह तो हाहा खाऊँ ?

अपने को संसार-समुद्र की विचित्र तरंग बतलाती हुई विरहिणी कह रही है—

उठ अवार न पार जाकर भी गई,
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई।
अटक जीवन के विशेष विचार में,
भटकती फिरती स्वयं मँझधार में,
सहज कर्षण कूल, कुंज, कछार में,
विषमता है किन्तु वायु-विकार में,
और चारों ओर चक्कर हैं कई,
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई।

इस किनारे से उठ कर गई भी पर पार तक न पहुँची; मैं इस संसार-समुद्र की एक विचित्र ही तरंग हूँ। जल की विशेष क्रिया (जीवन की विशेष परिस्थित) के कारण मैं रुक गई, अब स्वयं मँझधार में भटकती फिरती हूँ। कूल, कुंज और कछार में सहज ही आकर्षण पाया जाता है—यदि कभी-कभी वे आनन्द-प्रद प्रतीत नहीं होते तो इसका कारण वायु-विकार ही है। शिशिर में पत्तों का गिरना और वसन्त में वल्लरियों का लहलहाना—यह सब वायु-परिवर्तन के कारण ही तो होता है। पानी में जिस प्रकार भँवर होता है, उसी तरह मेरे जीवन में भी चारों ओर कई चक्कर हैं। ऊपर की पंक्तियों में 'अपार' इस किनारे तथा 'पार' दूसरे किनारे के लिए प्रयुक्त हैं। 'जीवन' और 'चक्कर' भी श्लिष्ट शब्द हैं जैसा कि ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है।

पर विलीन नहीं, रहूँ गतिहीन मैं,
दैन्य से न दबूँ कभी, वह दीन मैं,
अति अवश हूँ, किन्तु आत्म-अधीन मैं;
सखि, मिलन के पूर्व ही प्रिय-लीन मैं।
कर सका सो कर चुका अपना दई,
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई!

ऊर्मिला कहती है कि मैं चाहे कितनी भी निरुपाय क्यों न रहूँ संसार मुझे अपने में भुला नहीं रख सकता। मेरी दीन दशा अवश्य है पर मैं दृढ़ रहने वाली हूँ; विवश स्थिति के कारण भी घबड़ाने वाली नहीं हूँ। लाचार होने पर भी मैंने अपनी आत्मा को वश में कर रखा है। हे सखि! मिलन के पूर्व ही मैं तो प्रिय में लीन हूँ। "पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न अब वे थे!" दैव जो कर सकता था, वह तो वह कर ही चुका!

संभोग-शृंगार की एक खीझ-रीझमयी मधुर स्मृति का चित्रण निम्नलिखित कवित्त में हुआ है—

आये एक वार प्रिय बोले—'एक बात कहूँ,
विषय परन्तु गोपनीय सुनो कान में।'
मैंने कहा—'कौन यहाँ?' बोले—'प्रिये, चित्र तो हैं,
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान में।'
लाल किये कर्णमूल होंठों से उन्होंने कहा—
'क्या कहूँ सगद्गद् हूँ, मैं भी छद्‌-दान में;
कहते नहीं हैं, करते हैं कृती!' सजनी मैं
खीझ के भी रीझ उठी उस मुसकान में।

उक्त कवित्त को पढ़ कर अमरुक, मेघदूत तथा विहारी के निम्नलिखित पद्यों का ध्यान हो आता है—

"शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥"
(अमरुक)

"शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्
कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।"
(मेघदूत)

अर्थात् जो तेरा प्रिय सखियों के आगे कहने योग्य बात को भी तेरे मुख-स्पर्श के लोभ से तेरे कान में ही कहने को लालायित रहता था।

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुहँ चूम्यौ ढिग जाय।
हँस्यौ खिसानी गर गह्यौ रही गरै लिपटाय॥
(बिहारी)

ऊर्मिला के लक्ष्मण ने जिसे 'गोपनीय विषय' कहा है, उसकी

व्याख्या यदि यहाँ न भी की जाय तो भी आशा है, रसिक पाठक उसे समझ जायँगे।

ऊर्मिला अपने चपल यौवन-बाल को संबोधित करके कहती है—

मेरे चपल यौवन-बाल!
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल।
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल,
खेलना फिर खेल मन के पहन के मणि-माल।
पक रहें हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य-रसाल,
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल!

अर्थात् हे मेरे चपल यौवन रूपी शिशु! तू अंचल में निश्चल सोया रह, मचल कर मुझे व्यथित न कर। रात बीतने दे, फिर सुप्रभात होगा और मनोरथों के पूर्ण होने पर तू भी जी भर कर खेलना। अवधि धीरे-धीरे बीत रही है, तुझे भी मीठा फल मिलने वाला है। डर मत, काल बीत रहा है। और वह सुअवसर हाथ आने ही वाला है। हे मेरे प्रिय यौवन रूपी लाल! मेरा मनरूपी पुजारी शरीररूपी थाल में तुझे ही रख कर प्रियतम को भेंट करेगा।

'लाल' शब्द 'यौवन और माणिक' दोनों के अर्थ का द्योतक है। अन्तिम दो पंक्तियों में बड़ा सुन्दर रूपक बाँधा गया है।

ऊर्मिला के मन में पुरानी स्मृतियाँ रह रह कर सजग हो उठती हैं। एक बार संयोग के दिनों में अपनी वीणा गोद में लेकर उसने यह टेक छेड़ दी थी—

"न था दुर्ग तू, मानिनी-मान था!"

नायक (लक्ष्मण) जैसे कह रहा हो 'दुर्ग को तोड़ने के समान मानिनी का मान-भंग करना भी कठिन है।' नायक की भावना को वह अपनी वीणा द्वारा झंकृत कर रही थी। अकस्मात् विना

किसी शब्द के लक्ष्मण वहाँ आ पहुँचे। उनकी वृत्ति ऊर्मिला में लीन थी। 'न था दुर्ग तू, मानिनी-मान था' को सुन कर लक्ष्मण स्वयं अपने पर ही हँस पड़े 'बड़े, वीर थे, आज अच्छे फँसे!' ऊर्मिला को भी हँसी आ गई और बोली—अजी, मानिनी तो गई; (इस समय मैं मान किये नहीं बैठी हूँ) बधाई! आपको अनायास ही जीत मिल गई। लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

प्रिये हार में ही यहाँ जीत है,
रुका क्यों तुम्हारा नया गीत है?

ऊर्मिला ने कहा—अब आपके धनुष की टंकार के सामने यह वीणा की झंकार व्यर्थ-सी है। इस पर लक्ष्मण बोल उठे—मेरी चाप-टंकार तो तुम्हारी वीणा की झंकार में मग्न होकर सो रही है। ऊर्मिला पूछती है—भला, यह तो बताओ, झंकार और टंकार में अच्छी कौन है? लक्ष्मण कहते हैं कि दोनों ही अपने-अपने स्थानों पर अच्छी हैं। घर में वीणा की झंकार सुहाती है, तो रण-भूमि में धनुष की टंकार भली लगती है। सच्चे वीर तो इसीलिए युद्ध करते हैं कि आनन्द-ध्वनि अखण्डित बनी रहे; टंकार केवल टंकार के लिए थोड़े ही है, उसका लक्ष्य भी तो झंकार ही है—

इसी हेतु है जन्म टंकार का,
न टूटे कभी तार झंकार का।

टंकार की नौबत न आये तो अच्छा ही है जिससे सभी ओर झंकार होती रहे। किन्तु संसार में राज्य-लिप्सा पाई जाती है, इसीलिए इतनी हलचल होती है जिससे झंकार में बाधा पहुँचती है। और हम क्षत्रियों पर शान्ति बनाये रखने का जो दायित्व है उसका निर्वाह हम धनुर्बल के द्वारा ही कर पाते हैं—

'हमें शान्ति का भार जो है मिला,
इसी चाप की कोटियों से झिला।'

ऊर्मिला ने कहा—अस्तु, किन्तु मेरे लिए तो धनुर्विद्या व्यर्थ है, मेरे लिए तो संगीत ही सर्वश्रेष्ठ है—अच्छा ही है यदि कलह और अशांति के विवादी स्वरों से मेरे कान बचे रहें। धनुर्विद्या सीखने के लिए मैं तुम्हारी शिष्यता क्यों स्वीकार करूँ ? कहो तो वीणा बजाना सिखाने वाली मैं ही तुम्हारी शिक्षिका बन जाऊँ।

करूँ शिष्यता क्यों तुम्हारी अहो,
बनूँ तांत्रिकी शिक्षिका जो कहो।

'तांत्रिकी' शब्द श्लेष-बल से "मन्त्र फूँकने वाली अथवा मोहिनी विद्या सिखाने वाली" का भी द्योतक है। ऊर्मिला कहती है कि तुम तो मृगों को मार ही सकते हो, पकड़कर नहीं ला सकते किन्तु मैं अपने स्वरालाप से कहो, तो अभी उनको आकृष्ट कर लूँ। लक्ष्मण ने कहा तुमने मुझे तो अपने स्वरालाप से अभी आकृष्ट कर ही लिया है, फिर तुम शिष्य से शिक्षिका क्यों न बनो ! तुम अपनी स्वरालाप-धारा को प्रवाहित होने दो; मेरा धनुष तो एक कोने में पड़ा हुआ विश्राम करता रहेगा।

ऊर्मिला कहती है—

इसी भाँति आलाप-संलाप में,
(न ऐसे महाशाप में, ताप में,)
हमारा यहाँ काल था बीतता,
न सन्तोष का कोष था रीतता।
हरे ! हाय ! क्या से यहाँ क्या हुआ ?
उड़ा ही दिया मन्थरा ने सुआ !
हिया-पींजरा शून्य माँ को मिला,
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला !

अन्तिम पंक्ति बड़ी मार्मिक है। सिद्ध शिला से तात्पर्य उस शिला से है जिस पर योगी सिद्धि प्राप्त करता है। जब तक योगी रहता है तब तक तो वह सिद्ध-शिला है, जब योगी चला जाता है

तब वह कोरी शिला रह जाती है। अपने प्रियतम के बिना ऊर्मिला उस शिला की तरह हो गई है जिसे उसका योगी (सिद्ध) छोड़कर चला गया हो।

ऊर्मिला सोचती है कि जो आनन्द के दिन मैंने देखे थे उन्हें क्या मैं फिर कभी देख सकूँगी ? किन्तु अभी तो इस प्रत्यक्ष दुःख से ही छुटकारा मिलना कठिन है।

स्वप्न था वह जो देखा, देखूँगी फिर क्या कभी ?
इस प्रत्यक्ष से मेरा परित्राण कहाँ अभी ?

बारह वर्ष बीत गये, फिर भी स्वामी नहीं लौटे ! प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार १२ वर्षों में तो घूरे के भी दिन फिरते हैं।

कूड़े से भी आगे पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते ,
दिन बारह वर्षों में घूड़े के भी सुने गये हैं फिरते !

विरहिणी कहती है कि हे सखि ! जहाँ नित्य नया नया रस पिया था, वहाँ आज विष भी अलभ्य हो गया।

मरण-जीवन की यह संगिनी
बन सकी वन की न विहंगिनी !

हे सखि ! तू देख तो सही, कितनी उदासी यहाँ चारों ओर फैली हुई है और फिर यह भी सोच, अतीत में कितना आनन्द मैं मना चुकी हूँ ! जो हास-विलास पहले प्रत्यक्ष प्रकाशित थे, वे अब रुदित-से और उदास हो रहे हैं। हाय रे वैषम्य ! हे स्वजनि ! यदि मैं पागल भी हो सकूँ तो कुशल है; क्योंकि उस हालत में मैं अपनापन तो खो सकूँगी जिससे वेदना का अनुभव मुझे न होगा। 'कामायनी' के मनु ने भी कुछ इसी प्रकार की इच्छा प्रकट की थी—

"विस्मृति आ, अवसाद घेर ले ,
नीरवते ! बस चुप करदे ।
चेतनता चल जा, जड़ता से—
आज शून्य मेरा भर दे ॥"

ऊर्मिला शपथ दिलाती हुई कहती है कि हे सखि ! यदि मैं पागल हो जाऊँ तो तुम मेरा उपचार न करना, तुम तो इस तरह का प्रयत्न करना जिससे यह अवधि जल्दी से जल्दी बीत जाय। इस कुञ्ज में मुझे निर्भय छोड़ देना। यह कुञ्ज मिलन-भाषण का स्मृति-पुञ्ज-सा है; इसीमें प्रिय से मिलन भाषण हुआ करता था।

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! पागलपन में मैं अकारण ही रोऊँ और हँसूँ तो तुम मुझ पर न पसीजना। मेरे इस पागलपन को तुम मृत्यु अथवा आधि-व्याधि कुछ न समझना, इसे तुम केवल स्वप्न-समाधि के रूप में देखना। अहा ! यदि ऊर्मिला किसी तरह पागल हो जाय तो फिर क्या कहना ! यह विरह-रूपी सर्प तो फिर उसे नहीं सता पायगा:—

हहह ! पागल हो यदि ऊर्मिला ,
विरह-सर्प स्वयं फिर तो किला !

मंत्र द्वारा कीलित हो जाने पर सर्प निश्चेष्ट हो जाता है और काट नहीं सकता। ऊर्मिला के कहने का तात्पर्य यह है कि मेरा उन्माद विरह-रूपी सर्प को कील देने में मंत्र का-सा काम करेगा और मेरे ये मानसिक विकार तो प्रिय के लौट आने पर अपने आप मिट जायँगे और मेरे सुख-स्वप्न भी प्रत्यक्ष हो उठेंगे।

उन्माद-वश ऊर्मिला यह सोचने लगती है कि प्रिय उसके समक्ष खड़े हैं पर उनसे मिलने के लिए जब वह हाथ बढ़ाती है तब उसके हाथ शून्य में पड़ते हैं। ऊर्मिला कहती है कि न तो यह वियोग ही है और न इसे संयोग ही कहा जा सकता है। हे सखि ! मुझे बता तो सही, मैं अपने कौन-से भाग्य का भोग भोग रही हूँ ?

हे सखि ! मैं कभी-कभी सोचती हूँ कि प्रिय वन से लौट आते हैं और छिपे-छिपे आकर सभी कुछ देख लेते हैं तथा स्वयं भी कुछ दिखलाई पड़ जाते हैं। वे हमें देखने के लिए आते हैं अथवा हमारा उद्धार करने या हमें तारने के लिए आते हैं अथवा हम किस भाँति जी रहे हैं, यह जानने के लिए आते हैं ?

आते यहाँ नाथ निहारने हमें ,
उद्धारने या सखि, तारने हमें ?
जा जानने को, किस भाँति जी रहे ?
तो जान लें वे, हम अश्रु पी रहे !

प्रयोग के आधार पर 'हम अश्रु पी रहे' का समर्थन किया जा सकता है। अपने लिए 'हम' कहने पर अनेक प्रान्तों में स्त्री भी पुल्लिङ्ग क्रिया का ही प्रयोग करती है।

मनोवृत्ति का सच्चा अध्ययन ऊर्मिला की निम्नलिखित उक्ति में देखा जा सकता है—

सखि विचार कभी उठता यही—
अवधि पूर्ण हुई प्रिय आ गये।
तदपि मैं मिलते सकुचा रही ;
वह वही पर आज नये नये !

ऊर्मिला कहती है कि हे सखि ! कभी यह विचार उठता है कि अवधि पूर्ण हो गई और प्रिय आ गये हैं। उस समय मुझे ऐसी लज्जा आती है मानो पहले पहल ही मैं प्रिय से मिल रही हूँ। हे सखि ! मैं तो जहाँ-जहाँ देखती हूँ, वहाँ-वहाँ प्रिय की कान्ति ही मुझे सर्वत्र दिखलाई पड़ती है।

निरखती सखी, आज मैं जहाँ ,
दयति-दीप्ति ही दीखती वहाँ।

इस पर सखी कहती है कि तू तो भ्रान्त है, तुझे तो भावोन्माद हो गया है। यह सुन कर ऊर्मिला कहती है कि यदि मैं भ्रान्त हूँ तो मैं चाहती हूँ कि मैं भ्रान्त ही बनी रहूँ क्योंकि मुझे तो इस भ्रम में ही आनन्द है। यदि यह असत्य है तो किसी दूसरे सत्य की आवश्यकता मुझे नहीं।

हहह, ऊर्मिला भ्रान्त है, रहे ,
यह असत्य तो सत्य भी बहे।

'बहे' यहाँ 'दूर हो जाय' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उन्माद के वशीभूत होकर ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है कि देख, हंस की तरह शुभ्र वर्ण वाले मेरे प्रियतम केलि-कुंज से निकल कर किस प्रकार प्रेम-पुञ्ज-से खड़े हैं। आह! प्रियतम के लौट आने से आज मेरे ज्वलित प्राण भी प्राण पा गये हैं। हे सखि! देख इधर तो रुचिर (चारु) चन्द्र की चन्द्रिका छिटक रही है और उधर मल्लिका अपने अशोक से मिल रही है। आलम्बन (प्रिय) भी खड़े हैं और उद्दीपन (चन्द्रिका आदि) भी मौजूद है। आज १४ वर्षों की लम्बी अवधि पूर्ण हो गई है। दिगन्त में आज यश छा रहा है, आज की घड़ी धन्य है, किन्तु हे स्वजनि! आनन्दोत्सव के इस अवसर पर तू खिन्न-सी क्यों खड़ी है? जा, शीघ्र ही आरती के उपकरण जुटा जिससे मैं उनकी आरती उतार लूँ और अपने नेत्रों के अश्रु-जल से उनके चरणों का प्रक्षालन करूँ। देख तो सही, उन चरणों में जैसे धूल भरी है समुद्र में तैरते हुए को जैसे किनारा मिल जाय, वैसे ही विरह-रूपी समुद्र में तैरती हुई मेरे लिए उनके चरण तट के समान हैं। क्या ही विकट जटाजूट प्रिय ने बना रखा है, उनकी दोनों भृकुटियों में धनुष-सा तना हुआ है। उनका मुख मन्द हास्य से भरा हुआ है और उनकी कान्ति के सामने चन्द्र भी फीका पड़ गया है। कन्धरा उनकी ललित है, कण्ठ उनका शंख जैसा है। नेत्र कमल के समान हैं और जल की-सी निर्मल कान्ति उनकी है।

ललित कन्धरा, कण्ठ कम्बु-सा,
नयन पद्म-से ओन अम्बु-सा।

'कन्धरा' शब्द का अर्थ यद्यपि 'गर्दन' होता है पर जान पड़ता है, कवि ने यहाँ शब्द का प्रयोग 'कन्धे' के अर्थ में किया है।

ऊर्मिला कहती है कि प्रियतम का शरीर तपे हुए सोने की भाँति चमक रहा है। योग और क्षेम दोनों मेरे लिए आज सुलभ हो गये हैं। ऊर्मिला के भाग्य का आज उदय हुआ है; आज उसके समान कृती और कौन है?

तनु तपा हुआ शुद्ध हेम है,
सुलभ योग है और क्षेम है।
उदित ऊर्मिला-भाग्य धन्य है,
अब कृती कहाँ कौन अन्य है!

उन्माद के वशीभूत होकर ऊर्मिला कहती है कि हे नाथ! आप वहीं खड़े क्यों हैं! हे प्रिय! प्रवेश कीजिये, द्वार आपके लिए खुला है। आप तो मेरे पति हैं, इसलिए आपका समागम तो मेरे लिए हमेशा ही उचित है, विहित है। मैं जानती हूँ कि आप महान् हैं और मैं हीन हूँ तो भी धूलि की तरह मैं आपके ही चरणों से लगी हुई हूँ। हे स्वामिन्! देवता तो भक्ति को देखते हैं, व्यक्ति को नहीं। अब मैं भी दीन नहीं रही। आप मुझे मिल गए तो मुझे सभी कुछ मिल गया।

किन्तु हे प्रिय! आपके साथ के लोग तो दिखलाई नहीं पड़ते। क्या आप अवधि के पहले ही लौट आये?

प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
कि जिनके लिए था मुझे तजा?
वह नहीं फिरे? क्या तुम्हीं फिरे?
हम गिरे अहो! तो गिरे, गिरे!

आपने प्रभु (राम) और अग्रजा (सीता) के लिए ही तो मुझे छोड़ा था; अब यदि आप उनसे पहले ही लौट आये तो हमारा बड़ा भारी पतन हो गया!

हे स्वामिन् क्या अधिप (राम) ने मुझे दुखी समझ कर और मुझ पर दया करके आपको घर भेज दिया? किन्तु यह तो मेरे लिए और भी दुःख का कारण हो गया। हे प्रिय! आप फिर लौट जाइये, इस मोहोन्माद के वशीभूत न होइये। यह सच है कि मैं आपके वियोग में यहाँ विकल हूँ, किन्तु एक आदर्श की रक्षा के

लिए मैं कष्ट उठा रही हूँ, इसका मुझे गर्व भी तो है। मैं तो एक बड़ा भारी यज्ञ कर रही हूँ, उसको इस तरह नष्ट न करिये।

विकल मैं यहाँ किन्तु गर्विणी,
न करदो मुझे नष्ट पर्विणी।

और कदाचित् आप ही मोह के कारण लौट आये हैं, तब हे नाथ! क्या आप तपोभ्रष्ट नहीं हुए? अब तक तो मेरी व्यथा जैसी होनी चाहिए वैसी थी, अर्थात् वह सफल थी किन्तु यदि आप मोहाविष्ट होकर लौट आये हैं तो मेरी सारी व्यथा व्यर्थ ही रही।

घर फिरे तुम्हीं मोह से कहीं,
तब हुए तपोभ्रष्ट क्या नहीं?
च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा,
धिक्! वृथा हुई ऊर्मिला-व्यथा।

अभी समय है, लौट जाइये; यश-रूपी स्वर्ग से यों गिरिये नहीं। प्रभु दयालु हैं, लौट कर उनसे मिलिये और फिर उनके कुटीर-द्वार से हिलिये नहीं। अभी आपकी अपकीर्ति फैली नहीं है क्योंकि अभी किसीको मालूम ही नहीं हुआ कि आप लौट आये हैं; अभी तो एक-मात्र मुझे ही इस बात का पता है कि आप वन से वापिस आगये हैं किन्तु मेरा क्या, मैं तो आपसे अभिन्न हूँ, आपकी अर्द्धांगिनी हूँ। मेरी सखी को भी आपके आने का पता नहीं है, वह तो समझती है कि मुझ पर उन्माद छाया हुआ है।

यह सखी मुझे मत्त मानती,
कुशल मैं यही आज जानती।

यह भी अच्छा ही हुआ कि सखि मुझे उन्मत्त समझ रही है। 'तुम व्रती रहो और मैं सती रहूँ' मेरी तो यही अन्तराम अभिलाषा है।

अवश रो रहे प्राण ये धँसे,
तदपि कौन है, जो मुझे हँसे?

अब हँसी न हो और क्या कहूँ ?
तुम व्रती रहो, मैं सती रहूँ ।

फिर भी हे प्रिय! धिक्कार है तुम्हें जो सामने खड़े हो! निर्लज्ज की तरह क्यों यहाँ अड़े हो। जिधर भी पीठ देकर मैं अपनी दृष्टि फेरती हूँ हे ढीठ! तुम उधर ही दिखलाई पड़ते हो! तुम अपना धर्म छोड़ कर मुझसे मिलने के लिए आओ तो इससे अधिक बुरी बात मेरे लिए क्या होगी? ऐसी अवस्था में आत्महत्या करके मैं अपने प्राण क्यों न दे दूँ? ऊर्मिला जब आत्महत्या के लिए उतारू हो जाती है तो उसकी सखी उसे पकड़ कर ऐसा करने से मना करती है। इस पर ऊर्मिला कहती है कि हे सखी! मुझे मत पकड़, मुझे छोड़ दे। जब सखी यह कहती है कि—'वे यहाँ कहाँ?' तो ऊर्मिला अपने आपे में आने की चेष्टा करती हुई कह रही है—

"स्वजनि, क्या कहा—'वे यहाँ कहाँ?'
तदपि दीखते हैं जहाँ तहाँ?
यह यथार्थ उन्माद भ्रान्ति है?
ठहर तो मिटा क्षोभ, शान्ति है।"

उन्माद के वश ऊर्मिला अभी तक यही समझ रही थी कि अपना धर्म छोड़ कर अवधि के पहले ही प्रिय लौट आये हैं, इसलिए वह अति क्षुब्ध थी; किन्तु अब जब उसे यह प्रतीति हो गई कि यह यथार्थ उन्माद था तो उसने यह कह कर सन्तोष की साँस ली कि चलो, यह क्षोभ तो मिटा!

ऊर्मिला के मन में अब ग्लानि पैदा होती है कि उसने अपने स्वामी का विश्वास नहीं किया, पर दूसरे ही क्षण वह कहती है कि हे सखि! यह तो मेरे हाथ की बात न थी; उन्माद के वशीभूत होने के कारण ही मैंने अपने स्वामी की भर्त्सना की थी। हे सखि! बता मैं इसका क्या प्रायश्चित करूँ? इस अनर्थ का भी कहीं कोई ठिकाना है? वक्रोक्ति का आश्रय लेती हुई ऊर्मिला कह रही है—

पतित नाथ हैं ? तू सदाशया ?
अधम ऊर्मिले, हाय निर्दया ।
नियम पालती एक-मात्र तू,
सब अपात्र हैं और पात्र तू ?
मुहँ दिखायगी क्या उन्हें अरी,
मर ससंशया, क्यों न तू मरी ।

ऊर्मिला सोचती है कि स्वामी तो दयालु हैं, इसलिए वे मुझे अवश्य ही क्षमा कर देंगे, किन्तु उनके द्वारा क्षमा किये जाने पर भी मेरे हृदय में कितनी आत्म-ग्लानि बनी रहेगी !

सदय वे बता किन्तु चंचला,
वह क्षमा सही जायगी भला ?

ऊर्मिला कल्पना करती है कि मुझे क्षमा करके प्रिय इस प्रकार कहेंगे—

बिसरता नहीं न्याय भी दया,
बस रहो, प्रिये, जान मैं गया ।
तुम अधीर हो तुच्छ ताप में,
रह सकी नहीं आप आप में ।
न उस धूप में और मेह में,
तुम रहीं यहाँ राज-गेह में,
विदित क्या तुम्हें देवि, क्या हुआ,
रुधिर स्वेद के रूप में चुआ ।
विपिन में कभी सो सका न मैं ।
अधिक क्या कहूँ रो सका न मैं ।
वचन ये पुरस्कार में मिले,
'अहह ऊर्मिले ! हाय ऊर्मिले' ।

घर में बैठे-बैठे आलोचना करना सहज है, किन्तु तत्व की साधना अत्यन्त कठिन है; रजोगुण और तमोगुण को दबा कर प्रकृति को स्वस्थ करना पड़ता है।

गिन सको, गिनो शूल जो चुभे,
सहज है समालोचना शुभे।
कठिन साधना किन्तु तत्व की,
प्रथम चाहिए सिद्धि सत्व की।

वहाँ वन में तो कर्म का कठिन-क्षेत्र था; पर यहाँ क्या था? कभी दैव को दोष दिया और बहुत किया तो कुछ रो लिया।

कठिन कर्म का क्षेत्र था वहाँ,
पर यहाँ? कहो देवि क्या यहाँ?
उलहना कभी दैव को दिया,
बहुत जो किया नैंक रो लिया।

'नैंक' ब्रज-भाषा का प्रयोग है। ब्रज-भाषा के प्रयोगों को भी कहीं-कहीं गुप्तजी ने ग्रहण किया है।

ऊर्मिला सोचती है कि वक्रोक्ति का आश्रय लेकर प्रिय मुझे इस प्रकार कहेंगे—

स्वपति-पुण्य ही इष्ट था तुम्हें,
कटु मुझे तथा मिष्ट था तुम्हें।
प्रियतमे! तपोभ्रष्ट मैं? भला,
मत छुओ मुझे लौट मैं चला।

हे विरागिनी! तुम सुखी रहो; हे पुण्य-भागिनी! बस, अब मुझे बिदा दो! ऊर्मिला कल्पना करती है कि जब मैं उन्हें रोकने लगूँगी तो वे कहेंगे—

हट सुलक्षणे, रोक तू न यों,
पतित मैं, मुझे टोक तू न यों।

इसके आगे जो हुआ वह कवि की इन दो नाटकीय-पंक्तियों में पढ़िये—

'विवश लक्'—'नहीं, ऊर्मिला हहा !'
किधर ऊर्मिला ? आलि, क्या कहा ?

'विवश लक्—' कह कर ऊर्मिला जिस समय रुकी उसी समय घबराकर सखी चिल्ला उठी—'नहीं, ऊर्मिला हहा !' इसे सुन कर ऊर्मिला ने भी चौंक कर कहा—'किधर ऊर्मिला ? आलि, क्या कहा ?' वह तो उस समय अपने को लक्ष्मण मान रही थी ! कुछ देर बाद सँभल कर ऊर्मिला ने अपनी सखी से कहा—

फिर हुई अहा मत्त ऊर्मिला,
सखि प्रियत्व था क्या मुझे मिला ।
यह वियोग या रोग, जो कहे,
प्रियमयी सदा ऊर्मिला रहे ।

हे सखि ! प्रिय के ध्यान में मग्न रहने के कारण क्या मैं स्वयं प्रिय ही बन गई थी जो उन्हींके समान बोलने लगी ? ऊर्मिला कहती है कि यह वियोग हो चाहे रोग हो, किन्तु मेरी अन्यतम इच्छा है कि मैं सदा प्रियमयी बनी रहूँ ।

ऊर्मिला की सखी जब उसे अपने आपे में ले आती है तो ऊर्मिला कहती है—

उन्मादिनी कभी थी, विवेकिनी ऊर्मिला हुई सखि, अब है ;
अज्ञान भला, जिसमें सोहं तो क्या, स्वयं भी कब है ?

साधना के द्वारा ज्ञानी जब आत्मा और परमात्मा में अभेद स्थापित कर लेता है तब वह 'सोऽहं' की स्थिति को प्राप्त करता है । अज्ञान की दशा में प्रिय के साथ एकता का अनुभव कैसे हो सकता था ? इतना तो दूर, तब तो अपने अस्तित्व का अनुभव होना भी कठिन था !

ऊर्मिला की आँखों में प्रिय की छबि झूलने लगी है, इस समय प्रिय का प्रत्यक्ष ध्यान उसे हो आया है। तूलिका हो तो अभी चटपट वह प्रिय की छवि अङ्कित कर ले!

लाना, लाना, सखि, तूली!
आँखों में छवि झूली!
आ, अंकित कर उसे दिखाऊँ,
इस चिन्ता से छुट्टी पाऊँ,
डरती हूँ, फिर भूल न जाऊँ;
मैं हूँ भूली—भूली।
लाना, लाना, सखि, तूली!

वह अपनी सखी से कहती है कि इस समय प्रिय की छवि को मैं यदि अंकित कर लूँगी तो मेरा इस चिन्ता से पिण्ड छूट जायगा, क्योंकि तब वियोग वियोग न रह जायगा। यह अंकित की हुई छवि प्रिय के प्रत्यक्ष दर्शन की तरह काम आती रहेगी किन्तु डर है कि कहीं वह छवि आँखों से ओझल न हो जाय और मैं आज-कल भूली-भूली रहती हूँ। इसलिए हे सखि! जल्दी ही तूलिका ला जिससे मैं यह छवि अंकित कर सकूँ।

दक्ष के यज्ञ-कुण्ड में सती के भस्म होने के बाद शिव पहुँचे थे। मेरे जलने के बाद प्रिय आकर क्या करेंगे!

जब जल चुकी विरहिणी बाला,
बुझने लगी चिता की ज्वाला,
तब पहुँचा विरही मतवाला,
सती-हीन ज्यों शूली।
लाना, लाना, सखि, तूली!

लता तो जल गई, दावाग्नि से झुलसा हुआ पेड़ हवा के झोंके झेलता हुआ अभी खड़ा है, निर्झर भी बराबर पानी की झड़ी लगाकार

रोता-सा है। अभागा विरही हरहर करता है और पृथ्वी की धूलि उड़ रही है।

झुलसा तरु मरमर करता था,
झड़ निर्झर झरझर करता था,
हत विरही हरहर करता था,
उड़ती थी गोधूली।
लाना, लाना, सखि, तूली!

'मरमर' शब्द का बड़ा साभिप्राय प्रयोग यहाँ हुआ जान पड़ता है। सूखे पत्तों में होकर हवा जब बहती है तो मर्मर ध्वनि होती है। लता के वियोग में झुलसा हुआ पेड़ जैसे अपने लिए 'मर' 'मर'* कर रहा है, इस अर्थ की व्यंजना भी पहली पंक्ति से हो जाती है। 'गोधूली' को भी श्लिष्ट प्रयोग यदि मान लें तो 'इन्द्रियों की धूलि उड़ रही थी' यह अर्थ भी यहाँ ध्वनित हो जाता है।

वर्षा का एकत्र जल जहाँ उस स्थान पर गिरा, उसमें फिर नये-नये अंकुर निकलने लगे; हराभरा होकर पेड़ प्रफुल्ल हुआ—लता भी लिपट गई।

ज्यों ही अश्रु चिता पर आया,
उग अंकुर पत्तों से छाया,
फूल वही वदनाकृति लाया,
लिपटी लतिका फूली!
लाना, लाना, सखि, तूली!

ध्वनि यह है कि विरहिणी चाहे कितनी ही जल जाय प्रिय के मिलन-योगको पाकर वह फिर हरी भरी हो जाता है। इसलिए हे सखि!

* मिलाइये "पत्र पत्र मरमर करता था
मरण नहीं आता था।" (द्वापर)

तुरन्त तूलिका ला जिससे मैं झटपट प्रिय की छवि अंकित कर सकूँ।

अन्त में भगवान से प्रार्थना करती हुई ऊर्मिला कहती है—

सिर-माथे तेरा यह दान,
हे मेरे प्रेरक भगवान!
अब क्या माँगूँ भला और मैं फैला कर ये हाथ?
मुझे भूल कर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ।
मुझे न भूले उनका ध्यान।
हे मेरे प्रेरक भगवान!

जिस प्रेरक भगवान ने ऊर्मिला को वियोग दिया है, उसे वह अब शिरोधार्य कर रही है। उसकी आन्तरिक इच्छा यह है कि वह तो अपने प्रिय का स्मरण करती रहे किन्तु उसके प्रिय उसका स्मरण करके दुखी न हों।

डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिये ऊर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।
विधि से चलता रहे विधान।
हे मेरे प्रेरक भगवान!

समुद्र तो लक्ष्मी का पिता है, समुद्र में डूब कर लक्ष्मी का भला क्या बिगड़ सकता था? और सती भी आग में प्रवेश करके बच गई। ऊर्मिला भी अपने प्रिय की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करती रहे और ईश्वरीय विधान विधिपूर्वक चलता रहे।

दहन दिया तो भला सहन क्या होगा तुझे अदेय?
प्रभु की ही इच्छा पूरी हो जिसमें सबका श्रेय।
यही रुदन है मेरा गान।
हे मेरे प्रेरक भगवान!

ऊर्मिला कहती है कि जिस प्रभु ने मुझे वियोग की ज्वाला दी है, वही मुझे इसे सहने की शक्ति भी देगा। प्रभु की ही इच्छा पूरी हो

जिसमें सबका कल्याण है। मेरे लिए तो मेरा रुदन ही संगीत है।

इस सर्ग के अन्त में कवि की अन्तिम मार्मिक पंक्तियाँ हैं—

"अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जल-धार।"

ऊर्मिला के हृदय पर अवधि रूपी शिला का भारी भार पड़ा हुआ था। उसके नेत्रों से जो जल-धारा बहती थी, वह इस शिला को तिल-तिल काट रही थी। शिला और जल-धार का यह रूपक भावाभिव्यक्ति में अत्यन्त सहायक है। प्रिय के वियोग में आँसू बहा कर ऊर्मिला अपने पहाड़-से भारी दिनों को किसी प्रकार काट रही है। नेत्रों से अजस्र जल-धारा भी बहती रहे तो भी वह एक भारी शिला को कब तक काट सकेगी! निष्ठुर नियति के आगे किसका वश चलता है। कवि की यह उक्ति पाठकों के हृदय पर एक गहरी अवसाद की रेखा छोड़ जाती है।

'साकेत' का नवम सर्ग तो समाप्त हुआ किन्तु कवि की भावना के अनुसार तो "आज भी वह अधूरा है।" और मैं समझता हूँ, वह हमेशा अधूरा ही रहेगा। विरहिणी का हृदय तो एक अथाह समुद्र है; उसके भावोद्गारों की क्या कोई इयत्ता है?



परिशिष्ट

[१]

'साकेत' पर महात्माजी और गुप्तजी का पत्र-व्यवहार

[कविवर श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'साकेत' के प्रकाशित होने पर उसकी एक प्रति महात्मा गांधी के पास भेजी थी। उस समय महात्माजी और गुप्तजी में 'साकेत' पर मनोरंजक पत्र-व्यवहार हुआ था जिसका आवश्यक अंश यहाँ फाल्गुन १९९१ के 'विशाल-भारत' से सधन्यवाद उद्धृत किया जा रहा है।]

यरवदा सेन्ट्रल जेल,
५ अप्रेल, (१९३२)

भाई मैथिलीशरणजी,

आपका पत्र मिला था। 'साकेत', 'अनघ', 'पञ्चवटी' और 'झंकार' सब रसपूर्वक पढ़ गया। बहुत अच्छे लगे। परन्तु टीका करने की मैं अपनी कुछ भी योग्यता नहीं समझता हूँ। तो भी आपने मेरे अभिप्राय पूछे हैं और क्योंकि जैसे पढ़ता गया वैसे विचार भी आते रहते थे इसलिए जैसे आये वैसे ही आपके सामने रखता हूँ। ऊर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है परन्तु 'साकेत' में उसको शायद ही स्थान हो सकता। तुलसीदासजी ने ऊर्मिला के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोष दृष्टि से नहीं देखा। मुझको उसमें कवि की कला प्रतीत हुई है। मानस की रचना ऐसी है कि ऊर्मिला जैसे योग्य पात्र का उल्लेख अध्याहार में रखा गया है, और उसी में काव्य का और उन पात्रों का महत्व है। ऊर्मिला इत्यादि के गुणों का वर्णन सीता के गुण विशेष बताने के लिए ही आ सकता था। परन्तु ऊर्मिला के गुण सीता से कम थे ही नहीं। जैसी सीता वैसी ही उसकी भगिनीयाँ। मानस एक धर्म ग्रन्थ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीता सीताराम का ही जप जपाया है। 'साकेत' में

भी मैं वही चीज देखना चाहता था इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ। × × × ×

यह सब लिखने का मेरा उद्देश हरगिज यह नहीं कि आप दूसरे संस्करण के लिए सुधारणा करें। हाँ, यदि मेरे लिखने में आपको कुछ योग्यता प्रतीत हो तो दूसरी बात है।

× × ×

आपका

(ह०) मोहनदास

श्रीरामः

चिरगाँव (झाँसी)

रामनवमी १९८९

पूज्य बापू,

प्रणाम। कृपापत्र पाकर कृतार्थ हुआ। जो कुछ मैं चाहता था, उससे अधिक मुझे आपके इस वाक्य में मिल गया कि 'सब रसपूर्वक पढ़ गया। बहुत अच्छे लगे।' × × ×

बापू, आप तो समझौते के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। सम्भव हो तो मेरी भी एक बात मान लीजिए। आप ऊर्मिला के विषाद को 'साकेत' में स्थान रहने दीजिये और मैं दशरथ के जितने आँसू पोंछ सकूँ, 'साकेत' के अगले संस्करण तक पोंछने का प्रयत्न करूँ। मेरी माँग बहुत नहीं है। एक तो इसलिए कि आप उसे स्थान मिलने में सन्देह मात्र करते हैं, दूसरे एक दृष्टि से उसे सुन्दर भी समझते हैं। अपनी माँग उपस्थित करने में मेरे दिये हुए हेतु यदि सबल न जान पड़ें, तो इसे मेरी तर्क-दुर्बलता ही समझिये, और हो सके तो, अपने निकट मेरी ओर से भी थोड़ी-बहुत वकालत कर लीजिए।

आपने ऊर्मिला के विषाद की बात कह कर लिखा है—'साकेत में उसको शायद ही स्थान हो सकता।' इसीके अनन्तर आपने तुलसीदास की चर्चा करके मानस की रचना में ऊर्मिला के अध्याहार की बात कही है। उसे पढ़ कर एक बार मुझे यह भान भी हुआ कि

यहाँ 'साकेत' से आपका अभिप्राय मानस से तो नहीं है। ऐसा हो तो मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। परन्तु मैं 'साकेत' को विशेष अर्थ में लेकर ही अपना आवेदन उपस्थित करूँगा।

मानस की रचना में ऊर्मिला का अध्याहार करने की बात मैंने पहले भी सुनी है। क्यों नहीं, यह भी एक कला है। इस प्रकार की कला अपने मौन से इतना कह देती है, जितना वाणी से नहीं कहा जा सकता। वह अपने विषय को अकथनीय अथवा गूँगे का गुड़ बना देती है। परन्तु यह भी यथार्थ जान पड़ता है कि तुलसीदास को राम और सीता के चरित को ही प्रधानता देनी थी। उनके लिए उचित भी यही था। ऐसी दशा में ऊर्मिला के थोड़े से वर्णन से कदाचित् उन्हें सन्तोष न होता और अधिक वर्णन से सम्भवतः मुख्य विषय में बाधा पड़ती। जैसा आपने कहा है; उन्होंने प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीताराम का ही जप जपाया है। रामचरितमानस के नाम से भी यही प्रकट होता है। इसी कारण मैंने अपनी रचना का नाम 'साकेत' रखा। उसमें मुझे सबके दर्शनों की सुविधा मिल गई है, और आपने देखा होगा, उसमें मैंने कुछ देर तक माण्डवी की झाँकी के एवं एक झलक श्रुतिकीर्ति के भी दर्शन पाये हैं तथा शत्रुघ्न का भाषण भी सुना है। मैं नम्रतापूर्वक आपको विश्वास दिलाता हूँ कि तुलसीदास का दोष मान कर अथवा उनसे स्पर्धा करने के लिए मैंने ऊर्मिला का वर्णन नहीं किया है। आपके शब्दों में उनके इस अनुपम धर्मग्रन्थ ने ही मुझे इस ओर प्रेमाभिभूत करके आकर्षित किया है।

"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसके लागूँ पाय,
बलिहारी उन गुरुन की, गोविन्द दिये मिलाय।"

इस पद्य की सार्थकता तुलसीदास में उतनी ही दिखाई देती है, जितनी वह हो सकती है। अस्तु।

उपर्युक्त सुविधा, मुख्यतया ऊर्मिला की अनुभूति और अपनी रचना में कुछ नवीनता की इच्छा पर ही 'साकेत' का अस्तित्व है।

फिर भी तुलसीदास के उद्देश्य से मेरे उद्देश्य में कुछ भिन्नता तो है ही। सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी मानस के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानो राजा की मित्रता है, जो हाथी पर चढ़ाते-चढ़ाते शूली पर भी चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय 'साकेत' में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है। फिर भी मानो मेरा भाव समझ कर 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार 'साकेत' में वे उसी प्रकार आ बठे हैं जैसे आप अपने बड़प्पन को लिखने की गद्दी पर छोड़ कर आश्रम के बच्चों के बीच में आकर हँसते खेलते हैं।

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर लिखा है—

'रामायण में किसी देवता ने अपने को खर्व करके मनुष्य नहीं बनाया है, एक मनुष्य ही अपने गुणों के कारण बढ़ कर देवता बन गया है।' कवि ठाकुर की लेखनी में ऐसी शक्ति है कि वह किसी साधारण से साधारण पात्र को लेकर भी उसे बढ़ा कर देवत्व प्रदान कर सकती है! परन्तु मेरे लिए तो यही आधार है कि स्वयं देवता नहीं, करुणा तथा लीलामय स्वयं ब्रह्म अपने को अवतीर्ण करके मेरे बालविनोद में सम्मिलित हो जायँ। इसलिए 'साकेत' के प्रधानपात्रों ने मानो अपनी अलौकिकता को छोड़ कर अधिकतर लौकिकता ही धारण कर ली है। तथापि जैसा मैं कह चुका हूँ 'साकेत' में मुझे राम को प्रभु कहते ही बना है। लक्ष्मण में सैनिक भाव की प्रबलता रहते हुए भी वह लौकिकता यथेष्ट मात्रा में होने से मेरी उनके साथ सरलता से निभ जाती है। ऐसी दशा में आप ही बताइये, ऊर्मिला के अध्याहार से मेरा काम कैसे चल सकता?

यह ठीक है कि जैसी सीता, वैसी ही उनकी भगिनियाँ। परन्तु तत्वतः एक होते हुए भी, जैसे मनुष्य-रूप में राम और लक्ष्मण के स्वाभाव में विभेद-वैचित्र्य है, वैसे ही ऊर्मिला और सीता में होना स्वाभाविक है। यह वैचित्र्य लीलाशील सीताराम को भी इष्ट था।

इसी से चार मूर्तियों में वे अवतीर्ण हुए। वस्तुतः रामचरितमानस के सीताराम 'साकेत' में नायकों के भी नायक और सबके शिक्षक अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस नाट्य लीला में जितने पात्र हैं, सीताराम ही सबके सूत्रधार हैं। मेरे मानस में वे अपना जप जपाते हैं; किन्तु 'साकेत' में पाठ पढ़ाते हैं। 'साकेत' में सीता ही ऊर्मिला को आत्म-विश्वास की शिक्षा देती है।

धनुष के टूटने के पहले ही सीता ने राम को मन से वरण कर लिया है। इसी पर ऊर्मिला को जीवन में पहली चिन्ता हुई। वह घबराकर कहती है—'प्रभु चाप न जो चढ़ा सकें—परन्तु सीता निश्चिन्त हैं। वे उससे कहती हैं—

"चढ़ता उनसे न चाप जो,
वह होते न समर्थ आप जो,
उठती यह भौंह भी भला
उनके ऊपर तो अचंचला?
दृढ़ प्रत्यय के विना कहीं
यह आत्मार्पण दीखता नहीं।"

यही है वह आत्म-विश्वास, जो भयानक कहा जा सकता है। परन्तु ऊर्मिला ने उसकी शिक्षा पाई है, और वह भी यह कहने को समर्थ हुई है कि—

"यदि लीक धरे, न मैं रही,
मुझको लीक धरे, यही सही।"

इस दृढ़ प्रत्यय की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती। अयोध्या में सुना जाता है कि लक्ष्मण को शक्ति लगी है और भरत की ओर से ऊर्मिला को शत्रुघ्न सान्त्वना देते हैं—

"भाभी, भाभी सुनो, चार दिन तुम सब सहना,
मैं लक्ष्मण-पथ-पथी आर्य का है यह कहना।"

इस पर ऊर्मिला उत्तर देती है—

"देवर, तुम निश्चिन्त रहो, मैं कब रोती हूँ ;
किन्तु जानती नहीं जागती या सोती हूँ ।
जो हो, आँसू छोड़ आज प्रत्यय पीती हूँ ;
जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ ।"

सीता के इस विश्वास के समान ही यह दृढ़ है परन्तु इससे मेरा हृदय भीत न होकर स्फीत ही होता है। इसीलिए सीताराम के समीप मुझे जो भय लगता है, वह उर्मिला और लक्ष्मण के समीप नहीं।

ऊर्मिला के विषाद में उसका यह विश्वास डूब नहीं गया। यदि अनुकरण करने वालों से ही अनुकरणीय की सार्थकता होती है, तो इसी आत्म-विश्वास के अनुकरण के लिए 'साकेत' में ऊर्मिला का एक विशेष स्थान होना चाहिए! परन्तु यदि हम उसे लेंगे, तो हमें उसका विषाद भी लेना पड़ेगा।

मैंने एक कथा में सुना है कि स्वर्ग में भी एक विषाद रहता है। स्वर्गीय प्राणी भी हम नीचे पड़े हुओं को देख कर दुःख से हाय-हाय करते हैं, यही तो हम लोगों के लिए सहारा है। इतने पर भी इस विषाद को यदि दुर्बलता माना जाय, तो इस युग में, स्मरण रखिए, सबसे बड़े दुर्बल आप ही निकलेंगे।

और, क्षमा कीजिए, आपके राम की भी कुशल नहीं। 'साकेत' के पात्रों ने मानों हठ कर लिया है कि इन्हें रुला कर ही छोड़ेंगे। हम रोते रहें और ये हँसते रहें, यह नहीं हो सकता। अस्तु, भरत ने राम को रुला कर ही छोड़ा और धोखा देकर नहीं, डंके की चोट। इसे स्वयं राम ने स्वीकार किया है—

"रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझसे यही अपूर्व अलोभी।"

दूसरी पंक्ति से स्पष्ट है कि उन्हें पहले ही इसकी शंका थी और वे मानो अपनी व्यथा को विनोद में छिपा कर सामना करने के लिए प्रस्तुत थे। परन्तु भरत के आगे उनकी एक न चली। और, ऊर्मिला

और लक्ष्मण के आगे तो उन्हें माता-पिता की आज्ञा से राज्य छोड़ कर वनवास स्वीकार करने के गौरव का गर्व भी छोड़ देना पड़ा—

"लक्ष्मण, तुम हो तपस्पृही ,
मैं वन में भी रहा गृही ।
वनवासी हे निर्मोही ,
हुए वस्तुतः तुम दो ही ।"

राम की इस पराजय पर मुझे प्रसन्नता है। कारण, जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं उनसे डरा करता था। दूसरे, मेरा यह उद्देश भी सिद्ध हो गया, जिससे मैंने उन्हें नायक के बदले शिक्षक के पद पर प्रतिष्ठित किया था।

तीसरे, तुलसीदास की इस उक्ति की चरितार्थता मुझे देखने को मिल गई कि—'राम तें अधिक राम कर दासा।'

ऊर्मिला का रोना स्वार्थ को लेकर नहीं चलता—

"मैं अपने लिए अधीर नहीं ,
स्वार्थी यह लोचन नीर नहीं ।
क्या-से-क्या हाय ! हो गया यह ,
रस में विष कौन बो गया यह ?
जो यों निज प्राप्य छोड़ देंगे ,
अप्राप्य अनुग उनके लेंगे ?
माँ ने न तनिक समझा-बूझा ,
यह उन्हें अचानक क्या सूझा ?"

जब चित्रकूट में कैकेयी रोकर अपनी करनी पर पश्चात्ताप रूप कुछ प्रायश्चित्त कर चुकती है, तब ऊर्मिला मानो अपनी ओर देखने का अवकाश पाती है। वहाँ भी उसके हृदय में समवेदना का स्रोत उमड़ रहा है—

"अपने अतुलित कुल में प्रकट हुआ था कलंक जो काला,
वह उस कुल बाला ने अश्रुसलिल से समस्त धो डाला।"

चाहिए तो यही कि लोग उस विषाद की भीषणता को देखें और अपने कुल में वैसा कलंक न लगने देने की शिक्षा ग्रहण करें।

साधारणतः विरह-वर्णन में देखा जाता है कि विरही जन सारे उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसा करते हैं। द्विजराज चन्द्रमा तक को कसाई* कह देना तो कोई बात ही नहीं, और भी न जाने क्या क्या नहीं कहा जाता। किन्तु ऊर्मिला इस विचार के विरुद्ध मानो विद्रोह करती है।

वह सबका स्वागत करती है। इस कारण प्रकृति की शोभा में उसको अपने प्रियतम की आभा दिखाई देती है—

"प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं-सा।"

और—

"हँसो हँसो हे शशि, फूल, फूलो,
हँसो हिंडोरे पर बैठ भूलो।
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ,
झड़ी लगा दूँ, इतना पिये हूँ।"

---

*सिन्धु के सपूत अरु सिन्धुतनया के बन्धु,
आकर-पियूष औ प्रभा के समुदाई के,
कहे पदमाकर गिरीस के चढ़े हो सीस,
ओषधि के नाथ कुल-कारन कन्हाई के।
ह्वै के सुधाधाम काम विष कौ बगारै अरु,
बनिता वियोगिनी सतावत अघाई के,
ऐरे मतिमन्द चन्द! आवत न तोहि लाज,
ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के।

कभी वह चक्रवाक को सान्त्वना देती है, कभी कोयल को धैर्य धराती है, कभी लता को अवसर से लाभ उठाने के लिए प्रेरित करती है, कभी कली को शिक्षा का पाठ पढ़ाती है। मकड़ी और मक्खी भी उसकी सहानुभूति से वंचित नहीं। अपने रुदन से वह एक पत्ता भी सूखा नहीं रहने देना चाहती और उसे सरस बनाने के लिए अंचल पसार लेती है। अपनी वेदना का भी वह स्वागत करती है, और उसमें प्रियतम की स्मृति की मिठास पाती है—

"प्रियतम के गौरव ने लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी,
सखि, इस कटुता में भी मधुरस्मृति की मिठास, मैं बलिहारी।"

यदि मानव-स्वभाववश कभी क्षणिक भोग की लालसा उत्पन्न होती है, तो वह दूसरे ही क्षण मनसिज को अपने आत्म-विश्वास के बल पर चुनौती देती है—

"मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन पटु तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर विन्दु यह—यह हरनेत्र निहारो।
रूपदर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो यह मेरी चरण धूलि, उस रति के सिर पर धारो।"

यदि इतने पर भी यह विषादिनी निर्वासन पायगी, तो कहाँ जायगी? वह तो यही कहती है कि 'साकेत' में रहने का उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह बना रहे—

"डूब बची लक्ष्मी पानी में सती आग में पैठ,
जिये ऊर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।"

वह सहना चाहती है : दुःख की तो बात ही क्या, उसके पिता ने सुख के विषय में भी उसे यही उपदेश दिया था—'सुख को भी

सहनीय जानियो।' पहले उसे एक कामना भी थी। अपने वनवासी स्वामी से वह इतना चाहती थी—

"आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।"

परन्तु अपने स्वामी को स्मृतिजन्य वेदना से बचाने के लिए वह उस चाह को भी छोड़ देती है, और कहती है—'मुझे भूल कर ही त्रिभुवन में विचरें मेरे नाथ।'—'परन्तु मुझे न भूले उनका ध्यान।' 'साकेत' के एक कोने में बैठ कर इतनी-सी प्रार्थना करने का स्थान भी क्या उसे दुर्लभ होगा? वह रोती है, परन्तु आपकी किसी मर्यादा को भंग तो नहीं करती। जिस प्रियतम के लिए वह रोती है, उसके लिये स्वयं उसीको जाने देती है। सीता से जैसी शिक्षा उसने पाई है, वैसी ही गुरुदक्षिणा भी उन्हें चुकाई है। मेरी तो यही भावना है कि यदि स्वर्ग में भगवान की करुणा के लिए स्थान है; तो 'साकेत' में ऊर्मिला के विषाद के लिए भी वह निश्चित है।

प्रभु को वन में छोड़ कर उसके स्वामी स्वप्न में भी यदि उसके पास आ जाते हैं, तो भी वह 'जाओ' कह कर उन्हें वहीं लौटा देती है। राधा की प्रेम-पीड़ा और सीता की मर्यादा का भार वह वहन करती है। फिर भी कभी कभी रोकर वह अपना जी हलका न करे तो क्या करे, उसे जीना जो है। और, रोना तो उसे इतना रुचिकर हो गया है कि अन्त में भी वह यही कहती है—

"विरह रुदन में गया, मिलन में भी मैं रोऊँ;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए, पद-रज धोऊँ।"

मैंने तो रज धोने वाली समझ कर ही कुछ बूँदें उसके रुदन से संग्रह की हैं। मैं तो उसे यही कहते सुनता हूँ कि राम के साथ वन न जाकर यदि—

"रहते घर नाथ तो निरा
कहती स्त्रैण उन्हें यही गिरा।"

एवं सैनिकों को संबोधन करते हुए शत्रुघ्न के समीप उसे इस प्रकार पहुँचते देखता हूँ—

"प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी।"

वह सैनिकों को लंका के सोने की लूट से रोकने के लिए ही वहाँ पहुँचती है—

"सावधान! वह अधम धान्य-सा धन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना।"

घायलों की सेवा के लिए वह लंका के युद्ध में भी जाना चाहती है; परन्तु रोये बिना मानो वह रह नहीं सकती। इसलिए वहाँ भी वह अपने रोने की सुविधा कर लेती है और वह भी गाने के बीच में—

"गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगी मैं।"

बापू, मैंने आनन्द से अधिक मान कर ही वह विषाद लिया है। आप चाहे तो इसे मानव-स्वभाव की एक विलक्षणता समझ कर ही 'साकेत' में इसके लिए स्थान रहने दें। यदि यह ऊर्मिला के कर्तव्य में बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हो, तो उसे इस इस पर अभिमान कर लेने दीजिए। अपने प्रियतम के हास्य की अपेक्षा भी वह उसे अधिक मानती है—

"सखे, जाओ तुम हँस कर भूल,
रहूँ मैं सुध करके रोती।
तुम्हारे हँसने में हैं फूल,
हमारे रोने में मोती।"

रोना उसने स्वयं स्वीकार किया है। उसे कुछ देर के लिए तब वह छोड़ती है, जब साधारणतः रोना चाहिए! जिस दिन लंका में उसके स्वामी को शक्ति लगती है, उस दिन वह रोना छोड़ देती है। उसके विषय में भरत से माण्डवी कहती है—

"किन्तु बहन के बहने वाले आँसू भी सूखे हैं आज ,
वरुनी के वरुणालय भी वे अलकों से रूखे हैं आज ।"

फिर भी उसके विषाद अथवा रुदन से किसी की वीरता की हानि हो, तो क्या इसका दायित्व उसी पर है ?

रही भक्ति की बात, सो इसका भार भक्तों पर है। वह तो केवल अपनी भक्ति के विषय में कह सकती है, और उसे तो अपने रूप और गुण की अपेक्षा भी अपनी भक्ति का ही अधिक विश्वास है। एक आत्मा अपने परमात्मा में लीन होना चाहती है और कहती है—

"दयित देखते देव भक्ति को ,
निरखते नहीं नाथ, व्यक्ति को ।"

हाँ, उसकी बहिन माण्डवी, जो उसकी और अपने स्वामी की तपस्या नित्य देख रही है, अवश्य कहती है—

"दैव—अभागा दैव, हमारा कर क्या लेगा ,
श्रद्धांजलि चिरकाल भुवन भर भर-भर देगा ।"

और कुछ न सही, ऊर्मिला आपके वात्सल्य की अधिकारिणी तो अवश्य है। जनक के समान निष्ठा रखने वालों के प्रति उसका ऐसा अधिकार, उसके और स्वयं उनके, दोनों ही के लिए अनुचित नहीं। हमारे सम्प्रदाय में ऐसे भावुक भी सुने गये हैं, जो हमारे प्रभु को प्रणाम न करके आशीर्वाद दिया करते थे, और ऐसे भी, जो बेटी के यहाँ भोजन न करने की भावना से अयोध्या में पानी भी नहीं पीते थे।

मानस जैसे अनुपम धर्मग्रन्थवाली वस्तु आपने 'साकेत' में देखनी चाही थी, इसलिए कुछ भंग होना ठीक ही है। परन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि मैंने बापू की रस-विनोदमयी मार्मिक मनोवृत्ति देखी है, और मैंने टालस्टाय को रोमियो-जूलियट की भेंट नहीं भेजी।

'साकेत' में मैंने, कालिदास की प्रेरणा से, उस प्रेम की एक झलक देखने की चेष्टा की है, जो भोग से आरम्भ होकर, वियोग झेलता हुआ, योग में परिणत हो जाता है। प्रथम सर्ग में ऊर्मिला और

लक्ष्मण का प्रेम भोगजन्य किंवा कामजन्य है। उसीको योगजन्य अथवा रामजन्य देखने के उद्योग में 'साकेत' की सार्थकता है। लक्ष्मण ने अपने प्रेम को तप की अग्नि में तपा कर शुद्ध किया है, जैसा चित्रकूट में वे ऊर्मिला से कहते हैं—

"वन में तनिक तपस्या करके,
बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।"

वे सफल हुए हैं और अन्त में ऊर्मिला से कह सके हैं—

"आँखों में ही रही अभी तक तुम थीं मानो,
अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानो।
जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।"

इसी प्रकार ऊर्मिला ने अपने प्रेम को वियोग के पानी से धो-धोकर उसका मैल छुड़ाया है, और अन्त में वह बिना साज-सिंगार किये अपने स्वामी के सामने आ गई है। वह सखी के शृंगारानुरोध का प्रत्याख्यान करके कहती है—

"नहीं-नहीं, प्राणेश मुझीसे छले न जावें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं, हाय! तू तो रोती है,
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।"

इतने पर भी आपको ऊर्मिला का रुदन असहनीय हो तो उसे मैं आपके पास भेजे देता हूँ। गुरुजनों के सामने वह किसी प्रकार अपने रुदन को रोक लेगी, परन्तु उसे भय है कि उसकी दशा पर विचार करके आप स्वयं ही व्यथित न हो उठें। क्योंकि प्रसंग-विशेष में आप चाहे वज्रादपि कठोर बन जायँ, परन्तु स्वभाव से तो कुसुमादपि मृदु ही हैं। कालिदास ने कहा है—

"उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ।"

इसी भय से ऊर्मिला अपनों से बचती रहती है—

"रोती हैं और दूनी, निरख कर मुझे
दीन-सी तीन सासें,
होते हैं देवरश्री, नत हत बहनें
छोड़ती हैं उसासें।
आली, तू ही बता दे, इस विजन विना
मैं कहाँ आज जाऊँ,
दीना हीना अधीना ठहर कर जहाँ
शान्ति दूँ और पाऊँ।"

यदि आप उसे किसी काम में लगा दें, तो कदाचित् वह कुछ भूली रहे। वह भी यह चाहती है—

"मैं निज ललित कलाएँ भूल न जाऊँ वियोग-वेदन में,
सखि, पुरबाला-शाला खुलवा दे क्यों न उपवन में।"

वह तो आपकेलिए बकरी का दूध भी लाना चाहती है, परन्तु डरती है कि उसमें कभी पानी मिला देख कर आप यह न कह दें कि छोड़ा मैंने बकरी का दूध भी। पानी, हाँ, आँखों का पानी। बहुत रोकने पर भी एक-आध बार वह टपक पड़ा तो बापू दूध से भी गये, फिर चाहे उनके हाथ पैरों में क्रान्ति का संचार ही क्यों न न होने लगे। वह कहती है—

"बनाती रसोई, सभीको खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊँ किसे मैं अलोना सलोना।"

यह न समझिये कि वह कातना-बुनना नहीं जानती, उसकी बड़ी बहन चित्रकूट में कोल-किरात-भिल्ल-बालाओं से कहती है—

"तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में।"

परन्तु इस परिस्थिति में कदाचित् उसे रहँटा देना आप उचित न समझें, क्योंकि किसी दिन अन्यमनस्क होकर उसने अपने हाथ में उसका तकुवा लगा लिया तो और भी विपत्ति है। ड्रेसिंग के लिए डाक्टरों को न जाने कितनी फीस देनी पड़ेगी। आप जैसे कौड़ी-कौड़ी का लेखा लगाने वाले 'लोभी'* के लिए यह सुविधाजनक न होगा। तकुवे के बदले यदि आप उसे तूली दें, तो उसका उपयोग वह अवश्य करेगी। उसने कई चित्र बनाये भी हैं, एक का नाम है, 'दग्धवर्त्तिका।' पसन्द है?

प्रसंगानुसार यह भी कह देना चाहता हूँ कि एक बार मैंने उसे आपकी बात का विरोध करते भी देखा है। जिन दिनों आप चिरगाँव आ रहे थे, उन्हीं दिनों किसी सभा में बहुत से फूल लाये गये देख कर, उनके तोड़े जाने पर आपकी विरक्ति की बात सुनी गई थी। किन्तु ऊर्मिला कह रही थी—

"छोड़ छोड़, फूल मत तोड़ आली, देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं,
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आँसुओं से छाये हैं।
किन्तु नहीं, चुन ले सहर्ष खिले फूल सब,
रूप गुण गन्ध से जो तेरे मन भाये हैं,

---

* गांधीजी अपने १९२९ के दौरे में जब २३ नवम्बर को चिरगाँव पधारे थे; तब उन्होंने अपने भाषण में कहा था कि यद्यपि समय नहीं था, किन्तु मैंने अपना प्रोग्राम बनाने वालों से कहा था कि इस दौरे में मुझे चिरगाँव जाना ही होगा। मेरे लिए यहाँ दो-दो प्रलोभन थे। एक तो यहाँ मैथिलीशरणजी रहते हैं; दूसरे वे जानते हैं कि मैं लोभी हूँ, इसलिए उन्होंने मुझे पैसे का लोभ भी दिया।

जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिए,
गौरव के संग चढ़ने के लिए जाये हैं।"

परन्तु मैं समझता हूँ, इस अपराध के लिए 'साकेत' में आप इस विषादिनी को स्थान देने में कृपणता न करेंगे, संभवतः इसकी ठोढ़ी पकड़ कर 'पगली!' कहते हुए हँस जायँगे। सचमुच यदि आप इसे पगली कह दें, तो फिर क्या पूछना? यही तो वह चाहती है—

"स्वजनि, पागल भी यदि हो सकूँ,
कुशल तो अपनापन खो सकूँ।"

यह अपनापन—यह अहंभाव—ही तो वह छोड़ना चाहती है, प्रियमयी होकर। परन्तु सखी इसे अपने आपे में ले जाती है और तब वह कहती है—

"उन्मादिनी कभी थी, विवेकनी ऊर्मिला हुई सखि, अब है,
अज्ञान भला, जिसमें सोहं तो क्या. स्वयं अहं भी कब है।"

इस अज्ञान की प्राप्ति के लिए आप इसे आशीर्वाद देंगे या नहीं यह आप ही जनें।

उसके विषाद के विषय में लक्ष्मण का कहना है—

"पाप रहित सन्ताप जहाँ,
आत्म-शुद्धि हो आप वहाँ।"

मानो इसी भाव से अनुप्राणित होकर ऊर्मिला कहती है—

"सुख शान्ति नहीं, न हो मुझे,
तुम सन्तोष, बने रहो मुझे।"

मैं नहीं कह सकता, आपकी संस्कृति की रक्षा करने में वह कहाँ तक समर्थ हुई है; परन्तु उसने प्रयत्न अवश्य किया है, यह कहने में मुझे कोई बाधा नहीं जान पड़ती।

मैं तो उसके विषाद की हलचल को और भी बढ़ाने की इच्छा रखता था; परन्तु आगे उसमें और भाग न लेने के नियम पर ही आप मुझे निष्कृति दे दें, तो भी मैं समझूँगा कि मेरा

आवेदन स्वीकृत हो गया। और कहीं उस विषाद को आप भाषा की दृष्टि से सुन्दर मानने के साथ भाव की दृष्टि से भी असुन्दर न समझें, तो फिर आपका निर्णय मेरे पक्ष में है।

जो हो, आपके युग में ऊर्मिला का स्थान बने रहने के लिए मुझे आपसे समझौता करना ही पड़ेगा। इसीलिए तो मैंने आपको इतना कष्ट दिया है, और इसीलिए पुस्तक लिखते और छपते समय भी यथाशक्ति मैंने आपका कितना ध्यान रखा है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। अब भी मैं नम्रतापूर्वक कहता हूँ कि आपका कष्ट व्यर्थ नहीं गया, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप मेरे प्रभु के कितने निकट हैं। आपने मेरी प्रार्थना मान ली और 'साकेत' के दूसरे संस्करण के लिए उसकी त्रुटियों की उपेक्षा नहीं की, इसके लिए मैं नहीं जानता, किस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ। मधुर तो मुझे बहुत मिला है और अब भी मिल रहा है; किन्तु आपसे मैं जिस कल्याणकारी कटु की कामना रखता था, उसके साथ आपने मुझे मधुर भी दिया है। उसे भी मैं सिर झुका कर ग्रहण करता हूँ। मेरे पद्य आपको बहुत प्रिय लगे, इससे अधिक उनको और क्या सफलता मिल सकती है, एवं जैसा परशुरामजी के पत्र से ज्ञात हुआ, आपने 'अनघ' और 'साकेत' को आश्रम में पढ़ाने की आज्ञा दी है, इससे अधिक आप भी उन्हें क्या दे सकते थे।

कष्ट के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। आशा है, आप सकुशल हैं। मैंने सुन्दर लिपि-विषयक आपके विचार लज्जापूर्वक पढ़े थे। आज मेरी वह लज्जा और भी बढ़ गई थी, और विवश होकर मैंने टाइपराइटर का आश्रय भी ले लिया था, तब तक अजमेरी बाहर से आ गये। उन्होंने कहा, यह पत्र तो मैं अपने हाथ से लिख कर बापू की सेवा में भेजूँगा, और प्रतिलिपि प्रस्तुत कर दी।

विनीत

अजमेरी का प्रणाम। मैथिलीशरण

(महात्माजी का प्रत्युत्तर)

यरवडा मन्दिर,
२६-४-३२

भाई मैथिलीशरणजी

आपका पत्र मिल गया। यह पत्र पत्र नहीं है, परन्तु काव्य है। आपने मुझको हरा दिया है। मैं आपकी बात समझ गया हूँ और उस दृष्टि से ऊर्मिला के विलाप को स्थान है। बात यह है कि मुझको कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था। हमारे शास्त्रों का मेरा अभ्यास यत्किंचित् है, साहित्य का उससे भी कम, भाषा का ज्ञान वैसा हि। यह सब अपनी त्रुटियों को जानते हुए मैंने जो असर मेरे दिल पर हुआ आपको बता दिया। मित्र वर्ग मेरी अपूर्णता जानते हैं। तौ भी क्योंकि मैं सत्य का पुजारी हूँ, मेरा अभिप्राय कैसा भी हो चाहते हैं। ऐसे प्रेम के वश होकर मैंने आपको अभिप्राय भेज दिया था ! इसके उत्तर में आपके सुन्दर पत्र की, काव्य की, प्रतीक्षा कभी नहीं कर सकता था। इसे मैं रखुँगा, दुबारा पढुँगा। और अब आपने जो दृष्टि दी है उस दृष्टि से 'साकेत' फिर पढ़ना होगा। मुश्किल यह है कि अगरचे आपकी भाषा बहुत आसान है तौ भी हिन्दी का मेरा ज्ञान अल्प होने के कारण कहीं-कहीं समझने में कठिनता आती है। और हिन्दी का ज्ञान भी मेरा बहुत परिमित है, यह भी कठिनाई का कारण होता है। हिन्दी में ऐसा कोइ शब्दकोष है क्या, जिसमें से 'साकेत' आदि ग्रन्थ के प्रत्येक कठिन शब्द का अर्थ मिल सके? मैं जानता हूँ कि अधिक परिश्रम से बहुत-सी चीज तो ऐसे हि समझ लुँगा।

अजमेरीजी को मेरे वन्देमातरम्। उनके भजनों का मुझे खूब स्मरण है। ईश्वर कृपा होगी तो दुबारा किसी दीन सुनुँगा।

हाँ, 'साकेत' और 'अनघ' दोनों आश्रम में पढ़ाने का मैंने परसराम को लिखा था। सम्भव है कि उसका आरम्भ भी हो गया हो।

आपका
मोहनदास

परिशिष्ट

[२]

श्रीराम

चिरगाँव (झाँसी)
२७. ६. २००६

प्रिय सहलजी,

मैं सोचता था, स्वस्थ होने पर आपका लेख पढ़ कर आपको पत्र लिखूँगा, परन्तु बहुत दिन हो गये, उस आशा में अब आपका अधिक अपराधी नहीं होना चाहता। कई दिन में थोड़ा थोड़ा करके मैं फिर आपकी लेखमाला पढ़ गया हूँ। आपने इतना लिखने की जो कृपा की है उसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

साधारण-सी बात को भी असाधारण बनाकर ग्रहण करना उदार जनों का स्वभाव ही होता है। आपकी उदारता और सहृदयता तो इससे भी आगे बढ़ गई है। यही मेरे लिए बड़ी बात है।

आपने लिखा है, 'कवि की लेखनी से जब शब्द निकलते हैं तब वे कवि के वश में नहीं रह जाते।' मुझे ऐसा लगता है, सहृदय रसिक उनसे इतना ग्रहण कर लेते हैं जिसकी कल्पना कवि भी नहीं कर पाते।

मैंने कहीं पढ़ा था, उस्ताद गालिब अपने एक कविता-प्रेमी से अपनी किसी कविता की व्याख्या सुन कर हठात् बोल उठे थे—'कसम खुदा की, शेर कहते वक्त यह बात मेरे दिमाग में न थी!'

'भूल अवधि सुध प्रिय से' वाले पद्य में 'आओ' और 'जाओ' से आपने जो मध्या की उद्भावना की है वह मेरे मन में नहीं आई थी। मैंने तो वहाँ यही कहना चाहा था कि जागते में ऊर्मिला भले ही अवधि की सुध भूल कर पीड़ा के कारण कभी अपने प्रिय को पुकार उठती थी, परन्तु स्वप्न में भी वह अवधि के पहले उनका आना

नहीं चाहती थी। यदि वे कभी स्वप्न में आ जाते तो 'जाओ' कह कर वह जाग उठती थी।

इसी प्रकार श्रीगंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'माई मुख लज्जा उसी छाती में छिपाई थी' की एक नई व्याख्या मुझे सुनाई थी। परन्तु पीड़ित होने के कारण मेरा विकल मन उसे स्मरण नहीं रख सका।

बुन्देलखण्ड में भी स्वामी के लिए 'धनी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार बधू को 'बनी' भी कहते हैं, विशेष कर गीतों में।

लालों के बहाने ऊर्मिला सभी पक्षियों से पले रहने की बात कहती है।

'शरण किसे छलता है,' उखड़ा हुआ अथवा भ्रष्ट वाक्य हो सकता है, परन्तु मेरे कहने का आशय यह है कि शरण किसी को वंचित नहीं करता, आये हुए को लौटाता नहीं।

पक्षियों का चुगना ही ठीक है, परन्तु उन्हें 'चारा' भी दिया जाता है। इसका यह आशय नहीं कि मुझे अपनी असमर्थता अस्वीकार्य है।

बहुत ही कृतज्ञ हूँ 'विराट-रूपक' को अपनाने के लिए। विशेष कर जब श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी जैसे साहित्यकार तन्तुवाय के ताने-बाने में उलझ कर उससे झुँझला गये हैं।

'ठहर सखी......' सचमुच 'विरमत विरमत सख्यो...'का ही अनुवाद जान पड़ता है। परन्तु कृपा कर मुझे कहने दीजिये कि यह ज्ञानतः नहीं हुआ। होता भी तो 'साकेत' में न रक्खा जाता।

'त्रिविध पवन' वाली चतुष्पदी (रुबाई) में 'प्रकृति सुकृत' किया जा सकता है।

'वियोगिनी के निकट चन्द्र अमृत से खाली है,' वह विष पूर्ण भी हो सकता है। परन्तु जब वह खाली हो गया है तब उसे अमृतयुक्त क्यों न कहा जाय। 'जो मधु दीने ही बने माहुर दीजे नाहिं'। 'उलट गई श्यामा' कहनेसे चन्द्रमा का प्रातःकालीनहोना स्वयं सिद्ध है।

इस ओर बहुधा लोग बोलते हैं—अभी जाने दो, चौदह चक्कर खायेंगे और आयेंगे। पता नहीं, इस चौदह चक्कर खाने का क्या रहस्य है। ऊर्मिला धरती से जो चौदह चक्कर खाने की बात करती है वह चौदह वर्षों की अवधि को लेकर है।

'मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ' इस पंक्ति के सम्बन्ध में, याद पड़ता है, स्वर्गीय पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कुछ वैसी ही बात कही है जैसी आपने। कवि और तार्किक के क्षेत्र अलग-अलग होते हैं परन्तु क्या तार्किक यह सोच कर भी अपना समाधान नहीं कर सकते कि ऊर्मिला अपने प्रिय और प्रभुओं को वनवास के कष्टों से बचाकर घर लाने के लिए अपने आपको मिटा देना चाहती है।

'तो जान लें वे हम अश्रु पी रहे' में 'हम' का प्रयोग हम लोग अथवा हम सबके अर्थ में है।

मैं समझता हूँ, इतना यथेष्ट है। यद्यपि और भी कुछ साधारण बातें हैं परन्तु इस स्थिति में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। आपकी कृपा के लिए पुनर्वार हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और विलम्ब के लिए क्षमा याचना।

मेरे पिछले पत्र के उपयोग के सम्बन्ध में आपने पूछा था। यदि आप आवश्यक समझें तो ठीक है।

आप सानन्द होंगे। कृपा रखिए।

आपका
मैथिलीशरण

परिशिष्ट

[३]

ऊर्मिला के विरह-वर्णन की विशेषता *

'कामायनी' के मनु की उक्ति है:—

"सुखी रहे, सब सुखी रहें बस ,
छोड़ो मुझ अपराधी को।
श्रद्धा देख रही चुप मनु के ,
भीतर उठती आँधी को ॥"

जब मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के कष्टों को सहन कर चुकता है, जब उसे इस बात की प्रतीति होने लगती है कि मेरे अत्याचार के परिणामस्वरूप किसी दूसरे प्राणी को बड़ी कठोर यातना सहनी पड़ती है तो निर्मम कठोर मनुष्य का हृदय भी पिघलने लगता है और उसकी यह इच्छा होने लगती है कि दुनियाँ के सब प्राणी सुखी रहें। दुनियाँ के सब कष्टों का भार वह अपने ऊपर लेकर दुनियाँ को सुखी बनाने की इच्छा करने लगता है; ऐसा करके वह अपने अपराध की गुरुता का परिमार्जन करना चाहता है।

एक दूसरी स्थिति वह है जब मनुष्य दुख का गहन पाठ पढ़ लेता है तो वह सहानुभूति की ओर उन्मुख होता है। साकेतकार ने ऊर्मिला के वियोग-वर्णन में इस तथ्य की सम्यक् प्रतीति कराई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्यों को लीजिये—

"सुख दे सकते हैं तो दुखी-जन ही मुझे उन्हें यदि भेटूँ ,
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूँ !
इतनी बड़ी पुरी में, क्या ऐसी दुःखिनी नहीं कोई !
जिसकी सखी बनूँ मैं, जो मुझ-सी हो हँसी-रोई !"

---

* साहनी प्रकाशन, दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त

यह सच है कि सुख मनुष्य अकेला भोगना चाहता है और दुःख को दूसरों में बाँट कर; किन्तु ऊर्मिला की यह भावना कितनी उदात्त है—

"कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेटूँ ?"

ऊर्मिला सोचती है कि मेरे दुःख को देख कर शायद और किसीका ही दुःख हलका हो जाय।

वियोगजन्य दुःख के कारण ऊर्मिला के हृदय में प्रकृति के प्रति सदय भाव उत्पन्न हुआ है जैसा कि नीचे की पंक्तियों से स्पष्ट है—

"तरसूँ मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी बारी ॥"

जब मनुष्य पर विपत्ति के बादल टूट पड़ते हैं तब वह कभी-कभी यह कहता देखा गया है कि हे भगवान्! जैसा कष्ट तूने मुझे दिया है, वह और किसीको न देना। यह एक जीवन का बड़ा भारी तथ्य है कि दुःख पड़ने पर मनुष्य की वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं। कठोर से कठोर धातु भी आग में पड़ कर पिघलने लगती है।

दुखी मनुष्य क्यों सबके सुख की कामना करने लगता है, इसका कारण गुप्तजी की ऊर्मिला ने यह बतलाया है कि जब सबको सुख मिलने लगेगा तो कभी उसका भी सुख लौटेगा। अस्तु।

"रह चिर दिन तू हरी-भरी, बढ़, सुख से बढ़ सृष्टि-सुन्दरी।"

में भी यही भावना व्यक्त हुई है। डाल से अलग हुए पीले पत्ते को देख कर ऊर्मिला कहती है—

"तुम हो नीरस शरीर,
मुझमें है नयन-नीर;
इसका उपयोग वीर,
मुझको बतलाओ।
लूँ मैं अंचल पसार, पीत पत्र, आओ।"

हे भाई पीले पत्ते! तुम सूख गये हो, पेड़ से अलग होकर तुम निराधार भी हो गये हो। मेरे आँसुओं से सींचे जाकर तुम फिर हरे भरे हो सकते हो तो क्यों न इन आँसुओं का उपयोग कर लो! और फिर किस काम में आयेंगे मेरे ये आँसू!

दुःख में ही ऐसी शक्ति है कि वह इस चराचर जगत् को एक सूत्र में बाँध सकता है। पीले पत्ते से बन्धुत्व स्थापित करने वाली ऊर्मिला की उपरोक्त उक्ति कितनी मार्मिक है!

कुणाल जब अपनी आँखें खो बैठे तो उनके हृदय का कारुण्य-भाव और भी तीव्र हो गया था। दुखी मनुष्य के हृदय में सदय भावनाओंका संचार होना स्वाभाविक है। ऊर्मिलाकी निम्नलिखित उक्ति को लीजिये—

"छोड़ छोड़ फूल मत तोड़, आली, देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं!
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आँसुओं से छाये हैं।"

ऊर्मिला अपनी सखी को मना करती हुई कहती है कि हे सखि! छोड़-छोड़ फूल मत तोड़; देख, मेरा हाथ लगाते ही ये कैसे कुम्हला गये हैं। ये फूल क्या हैं, दुःखिनी लता के प्यारे सुकुमार बच्चे हैं जो बेचारे रो रहे हैं। अरी! क्या तुम्हें इन बच्चों का विनाश देख कर दया नहीं आती? हमारे क्षणिक विनोद में कितना विनाश छिपा हुआ है।

गुप्तजी के वियोग-वर्णन की यह विशेषता है, जिसकी ओर मैं सुधी समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया चाहता हूँ।

व्यक्तिगत दुःख विश्व-हित का प्रवर्त्तक हो जाय, इस प्रकार की भावना प्रसादकी कृतियों में भी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी गा रही है:—

"यह कसक अरे आँसू सह जा।
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा।"

'आँसू' के निम्नलिखित पद्यों में भी इसीसे मिलती-जुलती भावना व्यक्त हुई है:—

"निर्मम जगती को तेरा, मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की, कल्याणी शीतल ज्वाला!
सबका निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रभात हिमकन-सा आँसू इस विश्व-सदन में।"

'प्रियप्रवास' की यशोदा भी उद्धव से कहती है:—

"पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई,
कैसी ही हो सरस सरिता वारि-शून्या न होवे।
ऊधो सीपी सदृश न कभी भाग फूटे किसीका,
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे।"

ऊपर की पंक्तियों में यशोदा के अपने दुःख की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। यशोदा आगे कहती ही चली जाती है—किसी वापिका की गोद कभी कमलों से रहित न हो, पुष्पों वाली लता कभी पुष्पहीना न हो जाय, वृद्धता में किसी का लकुट कभी न छीना जाय, किसी की जन्म भर की पूँजी कोई न छीन ले, किसी का स्वर्ग-सदन भी विना दीपक के न हो, किसी के दृग की ज्योति उससे अलग न हो जाय। सकल पीड़ाएँ चाहे सहनी पड़े, किन्तु कभी मर्म-बेधी व्यथा इस संसार में न हो।

प्रियप्रवासकार ने आगे चलकर कृष्ण के प्रति राधा के व्यक्तिगत प्रेम को विश्व-प्रेम में विनिमज्जित कर दिया है।

गुप्तजी ने ऊर्मिला के विरह-वर्णन में जो नूतन परिपाटी ग्रहण की है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। ऊर्मिला स्वयं दुःख उठा लेना चाहती है

किन्तु दूसरे को तनिक भी दुखी नहीं करना चाहती।

'साकेत' और 'यशोधरा' के यशस्वी रचयिता श्री मैथिलीशरणजी के पास मैंने अपने उक्त विचार लिखकर भेजे और उनसे जानना चाहा कि इस तरह के वियोग-वर्णन की प्रेरणा उन्हें कहाँ से और कैसे मिली? क्या संस्कृत-साहित्य में इस तरह का वियोग-वर्णन मिलता है? क्या कालिदास के 'मेघदूत' की निम्नलिखित पंक्ति से ऊर्मिला के वियोग-वर्णन की तुलना की जा सकती है?

मा भूदेवं क्वचिदपि च ते विद्युता विप्रयोगः।

अर्थात् हे मेघ! बिजली से तेरा कभी वियोग न हो।

गुप्तजी ने इस सम्बन्ध में जो उत्तर दिया, वह यहाँ अविकल उद्धृत किया जा रहा है:

चिरगाँव (झाँसी), नागपञ्चमी, २००६ वि०

प्रिय सहलजी,

कृपा-पत्र पाकर प्रसन्नता हुई, बहुत-बहुत धन्यवाद। निश्चय-पूर्वक यह कहना कठिन है कि पहले-पहल कब मुझमें एक चिरपरिचित परिपाटी के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। यदि मैंने कहीं कोई संकेत पाया हो, तो उसका भी कोई स्मरण मुझे नहीं है। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि परवर्ती लेखकों को, अपनी उद्भावनाओं के लिए, प्रायः अपने पूर्ववर्त्तियों से अंकित रहना पड़ता है। 'मेघनादवध' के अनुवाद में जिस छन्द का अनुकान्त और 'नहुष' में सतुकान्त रूप में मैंने प्रयोग किया है, उसके विषय में, मेरा विश्वास है, उसे मैंने पहले कहीं नहीं देखा था। परन्तु मेरे आलोचक श्री गिरीशजी ने 'गीतावलि' से एक उद्धरण दिया है, जो तुकान्त रूप में तत्सम है। जिस जन ने 'साकेत' लिखने के पहले 'रामचरितमानस' के सैकड़ों पाठ किये हों, उसके विषय में यह कौन मानेगा कि उसने 'गीतावलि' का एक भी पारायण न किया होगा। परन्तु है वस्तुतः ऐसा ही। मैं जानता हूँ, आप मेरे कहने का विश्वास करेंगे, इसीसे आपको यह

लिखने का साहस कर रहा हूँ।

संभवतः मेरे अज्ञात संस्कारों ने ही वियोग का ऐसा वर्णन करने को मुझे प्रेरित किया है। 'साकेत' की भूमिका में किसी अन्य का यश अपहरण करके मैंने यह नहीं लिखा कि ऊर्मिला के वियोग-वर्णन में मैंने स्वच्छन्दता से काम लिया है। मुझे यह बात खली थी कि वियोगिनी अपने दुःख में दूसरे को भी सुखी न देख सके और सृष्टि के स्वाभाविक विकास में बाधा बनकर ऐसे उद्गार प्रकट करने लगे, जैसे—

'ह्वै कै दुजराज काल कन्त कसाई के।'

जिस जाति के पुरुष 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' तक जायँ, उसमें मुझे ऊर्मिला का यही कहना उचित लगा कि—

'हँसो हँसो हे शशि, फूल, फूलो।'

'साकेत' के सम्बन्ध में बापू के साथ हुए अपने पत्र-व्यवहार में भी मैंने इस विषय की कुछ चर्चा की है।

यह दूसरी बात है कि हमारी अन्तःप्रकृति का प्रभाव बाह्य प्रकृति पर पड़ता जान पड़े और वह हमें अपने सुख-दुख में सहानुभूति प्रकट करती दिखाई दे। यह कोई विस्मय की बात नहीं कि—

'सरल तरल जिन तुहिन-कणों से हँसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे संग उन्हीं-से रोती है।'

गोपियों की वह बात भी समझ में आती है—

'मधुवन तुम कत रहत हरे?
विरह-वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े कस न जरे?'

इस उलहने में तुच्छ स्वार्थ की भावना नहीं है। परन्तु 'द्वापर' में मेरी गोपियाँ तो मधुवन की हरियाली के फूलने-फलने का और ही अर्थ समझती हैं—

'अब जो हरियाली है सो सब आशा के कारण है ,
कुसुमितता, वह पूर्वस्मृति की किये पुलक धारण है ।
वह आता है, यही सोचकर आ जाते हैं फल भी ,
ईश्वर जाने अब क्या होगा, भारी है पल-पल भी ।'

उद्दीपनों के कारण वियोगिनी को पीड़ा पहुँच सकती है, परन्तु इसका दोष भी ऊर्मिला उन्हें नहीं, अपने ही को देती है—

'फूल, खिलो आनन्द से, तुम पर मेरा तोष ,
इस मनसिज पर ही मुझे, दोष देखकर रोष ।'

इस रोष को उसने एक गीत में सीधे-सीधे प्रकट किया है—

'मुझे फूल मत मारो,'''इत्यादि ।

यह मानने में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं कि मयूर को नाचते हुए देखकर ऊर्मिला के उधर न जाने में उद्दीपन से बचने का भी व्यंग्य हो सकता है। यदि मेरी आँखों में पीड़ा है और कहीं दीपक जल रहा है, तो उचित यही है कि मैं उस ओर न देखूँ । यह तो ओछापन होगा कि उसे बुझाने का उपक्रम करूँ । जब ऐसा उद्दीपन टाला नहीं जा सकता, तब भी ऊर्मिला यही कहती है—

बरस घटा, बरसूँ मैं संग ,
सरसें सब अवनी के अंग ।

प्राकृतिक सौन्दर्य को वह कैसे कोस सकती है ? उसमें तो उसे अपने प्रियतम की छटा ही छिटकी दिखाई देती है—

'प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं-सा ।'

और—

'ओ उन अंगों के आभास ,
खिल सहस्रदल सरस सुवास ,

फिर भी मैं नहीं जानता, जिस भाव से, मैंने अपने जानते नये रूप में ऐसा वियोग-वर्णन किया है, वह कहाँ तक ठीक है। इसका विचार तो आप ही लोग कर सकते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक लेखक की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ उसकी रचना में भी छलक पड़ती हैं।

अपने पर कष्ट आने से क्यों मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर भी पर-सुख की इच्छा करने लगता है? इस सम्बन्ध में आपने जो सम्भावनाएँ प्रकट की हैं, उनमें, उचित समझें तो, वियोगिनी के संतोष की आप एक यह सम्भावना भी बढ़ा सकते हैं कि जिन उद्दीपनों ने मुझ पर अत्याचार किया है, उन्हें मेरे ही एक-दूसरे सजाति जन ने संयोग में अपना सेवक बना रखा है। परन्तु इस संभावना के लिए मुझे तनिक भी आग्रह नहीं।

"मा भू देवं क्वचिदपि च ते विद्युता विप्रयोगः" बड़ी सुन्दर पंक्ति है। परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में इसमें आशीर्वाद किंवा शुभकामना के रूप में यक्ष ने उस काम का प्रतिदान ही मेघ को दिया है, जो उसने उससे लिया है अथवा लेना चाहा है।

मेरी दशा इन दिनों ऐसी है कि इतना ही लिखलिखाकर मैं श्रान्त हो उठा हूँ। फिर भी मैं हृदय से आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझे अपनी स्थिति स्पष्ट करने का अवसर प्रदान किया है। आप सर्वथा स्वस्थ सानन्द होंगे। ऐसी ही कृपा बनाये रहिए।

आपका

(ह०) मैथिलीशरण

ना के अंग ।

प्राकृतिक स..दर्य को वह कैसे कोस सकती है ? उस
प्रियतम की छटा ही छिटकी दिखाई देती है—

'प्रकृत सुकृत फैले, भा रहा जो उन्हीं-सा ।'

और—

'ओ उन अंगों के आभास,
खिल सहस्रदल सरस सुवास,

